

भारत की राजनैतिक अर्थव्यवस्था, जनतांत्रिक अधिकार, और जनतांत्रिक अधिकार की लड़ाई¹

यह लेख गणतांत्रिक अधिकार सुरक्षा संगठन (GASS) के द्वारा आयोजित एक कांफ्रेंस में 18 मार्च, 2017 को रजनी देसाई द्वारा दिये गए व्याख्यान पर आधारित है। बाद में हुई चर्चा के चलते कुछ अंश जोड़े गए हैं। इसके अलावा कुछ मामूली सुधार और संशोधन भी किए गए हैं।

दोस्तों,

मैं संक्षेप में अपने तर्क कुछ इस प्रकार रखना चाहूंगी:

1. हमारे देश के जनतांत्रिक अधिकारों की स्थिति को समझने व उन अधिकारों के लिए आंदोलन खड़ा करने के लिए देश की राजनैतिक अर्थव्यवस्था को समझना बहुत ज़रूरी है। राजनैतिक अर्थव्यवस्था की समझ हमें दो अन्य बातें समझने में मदद करती है: पहली, कि आखिर क्यों हमारे देश में हमेशा से लोगों का उत्पीड़न और दमन होता आया है? और दूसरी यह कि आखिर किन वास्तविक हालातों में जनता में जनतांत्रिक अधिकारों की चेतना पनपती है। जाहिर है कि इन बातों को समझ कर ही हम अपने जनतांत्रिक अधिकारों की लड़ाई को दिशा दे पाएंगे।

2. हमें 'अधिकारों' की परिभाषा (concept) को ऐतिहासिक दृष्टि से समझना होगा। जैसा कि मार्क्स ने कहा था 'इंसान अपना इतिहास खुद रचता है, पर वो उसे अपने मन मुताबिक नहीं रचता; वो इतिहास अपने चुने हुए हालातों में भी नहीं रचता, बल्कि उसे उन हालातों में रचना पड़ता है जो पहले से ही कायम हैं, जो उसे अपने अतीत से मिलता है।' फ्रांस और इंग्लैंड जैसे देशों के इतिहास में, सामंती ढाँचे के विरुद्ध अलग-अलग समयों में खूनी संघर्ष हुए हैं। इन संघर्षों के दौरान, इन देशों के नए उभरते पूंजीपति वर्ग को सामंती वर्ग के शासन को उखाड़ने के लिए शहरी और ग्रामीण मेहनतकश जनता के सहयोग की ज़रूरत पड़ी। यह बात सच है कि नए ढाँचे में भी मेहनतकश जनता को सत्ता तो नहीं मिली, पर कुछ तरह के अधिकार मिले, और उससे भी ज़रूरी बात यह हुई कि आम जनता के बीच अधिकारों की चेतना बनी, जो कि समय-समय में धुंधली तो पड़ती आयी है पर कभी भी पूरी तरह से मिट नहीं पाई।

3. अंग्रेज़ शासन के दौरान और उसके बाद भी, हमारे देश में भी कई उथल-पुथल हुए। कई तरह के आंदोलन व संघर्ष हुए, पर पुराने ढाँचे को पूरी तरह कभी भी ढहा नहीं पाए। जिसके चलते जनतांत्रिक उसूलों

¹ इस लेख का अनुवाद कारवां कलेक्टिव ने किया है। मूल लेख *Aspects of Indian Economy, Number 69, "Democratic Rights; Coal; Climate Change"* (URL: <http://rupe-india.org/69/contents.html>) में पाया जा सकता है। सम्पर्क: karwan.collective@gmail.com अथवा <https://karwan-collective.appspot.com/>

पर समाज रचने का कार्यक्रम भी अधूरा ही रह गया। 1947 के बाद आये नए शासकों ने भी कई मायनों में अंग्रेजी शासनकाल से निरंतरता बनाए रखने का ही फैसला लिया। और यह इसी बात का परिणाम है कि पिछले सत्तर सालों में इस देश का आर्थिक विकास और खास तौर से रोजगार का स्वरूप एकदम टेढ़ा-मेढ़ा और बेढंगा रहा है। यहाँ करोड़ों लोग असंगठित क्षेत्र में तुंसे पड़े हैं और सिर्फ दो जून रोटी के लिए कमर-तोड़ मेहनत कर रहे हैं, और दूसरी तरफ चंद अमीर लोग इस देश की तमाम सम्पदा पर कुंडली मारकर बैठे हैं और सारा मलाई मक्खन भी उकार रहे हैं। इसी विकृत स्थिति के चलते समाज में मौजूद तमाम पिछड़ापन मजबूती के साथ अब भी बरकरार है। मार्क्स के शब्दों में: *मरे हुए पूर्वजों की परम्पराएं जिंदा लोगों के दिमाग पर एक खराब सपने की तरह बोझ होती हैं* भारतीय समाज शायद दुनिया का सबसे बंटा हुआ समाज है, यहाँ की मेहनतकश जनता जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा में बंटी हुई है, और उसके ऊपर इनमें भी कई तरह की ऊंच-नीच और भेद-भाव बना हुआ है। ऐसे हालात तानाशाही के लिए एक दम फिट बैठते हैं, और वाकई में तानाशाही हमें देश के राजनैतिक माहौल और सरकारी ढाँचे में साफ दिखती है।

4. पिछले 25 सालों में हमारे देश में बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश हुआ है – यहाँ बड़ी सारी विदेशी कम्पनियाँ भी आई हैं और विदेशी फाइनेंस (वित्तीय) कंपनियों ने यहाँ निवेश भी किया है। चूँकि व्यापक गरीबी के चलते हमारे देश में इन कंपनियों के लिए पर्याप्त बाज़ार नहीं है तो उतना मुनाफा कमाने की गुंजाइश नहीं बचती, इसलिए हमारा शासक वर्ग और ग्लोबल पूंजी मिलकर इसकी भरपाई इन भुखमंगों की बची जमा-पूँजी छीन कर कर रहे हैं – जैसे कि उनकी ज़मीन और जंगल और उनके नीचे पाया जाने वाला खनिज। और इसे अंजाम देने के लिए इस देश की तानाशाही सरकार और राजनैतिक माहौल से उनको भरपूर मदद मिल रही है।

5. फ्रांस और इंग्लैंड के इतिहास (जिसका जिक्र हमने पहले किया है) से साफ ज़ाहिर है कि लोगों की जनतांत्रिक चेतना (जो कि जनतांत्रिक अधिकारों के लिए आंदोलन का मूल आधार है) का उस जगह के लोकतान्त्रिक आंदोलन से सीधा सम्बन्ध है – यानी कि वहाँ की आम जनता को एक बेहतर जीवन दिलाने व और वर्तमान सामाजिक ढाँचे को **pro-people** (जनता के हित में) बनाने के लिए किये जाने वाले संघर्ष से। इसीलिए लोकतान्त्रिक अधिकारों के आंदोलन का आधार सिर्फ किताबी समझ नहीं हो सकती – चाहे वो संविधान के पन्नों से निकलकर आए या फिर विश्वव्यापी (दुनिया में सबके लिए बराबर) मानव अधिकार जैसे कोरे सिद्धांतों पर आधारित हो। बल्कि ऐसा कोई भी आंदोलन लोगों के अपनी ज़िंदगी सुधारने के लिए रोजमर्रा के ठोस संघर्षों पर आधारित होगा। उसका जनसंगठनों के आन्दोलनों से सीधा सम्बन्ध होगा और उसकी जवाबदेही भी जनता से होगी। हाँ यह बात ज़रूर है कि वह उस समय और स्थान के जनतांत्रिक आंदोलन पर पूरी तरह निर्भर होगा।

* * *

दोस्तों, कुछ समय से एक सवाल मुझे कोंचे जा रहा है – सरकार द्वारा हाल ही में किये गए नोटबंदी ने मेहनतकश जनता की जिंदगी में कहर बरपाया है, खास तौर पर इस देश के विशाल असंगठित क्षेत्र में कार्यरत बहुसंख्यक लोगों पर। यहाँ तक कि अमर्त्य सेन, जिन्हें की किसी भी सूरत में कट्टर वामपंथी अर्थशास्त्री नहीं कहा जा सकता, ने भी इस चाल को तानाशाही कहा। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि इतनी दिक्कतों के बावजूद इस बड़े देश में रह रही विशाल आबादी (जो की जिंदा रहने के लिए निरंतर जूझ रही है), में कहीं से भी सरकार की इस चाल के खिलाफ विद्रोह तो दूर बड़े पैमाने पर जन आंदोलन भी खड़ा नहीं हुआ। आखिर क्यों?

तानाशाही

हालाँकि नोटबंदी एक बेहद ही बेहूदी और विनाशकारी कार्रवाई थी पर ऐसा कतई नहीं है कि हमारे इस जनतांत्रिक देश में यह पहली बार हो रहा हो। लेकिन इस पर बात करने से पहले आइए हम कुछ ऐसे मुद्दों पर थोड़ी बातचीत करते हैं जो पहली नज़र में इस विषय से एकदम हटकर लग सकते हैं। शायद आप सब को छत्तीसगढ़ के बारे में पता होगा, जहाँ सरकार ने सारे नियम-कानून को एकदम ही ताक पर रख दिया है, जनतांत्रिकता तो बहुत दूर की बात लगती है। सरकारी तंत्र का नंगा नाच आम सी बात है – कितनी घटनाएं गिनाएं, सूची बहुत लम्बी है। पहले तो पुलिस एक निजी आतंकवादी फ़ौज खड़ा करती है जो वहां की बेबस जनता पर इतना जुल्म ढाती है कि बड़ी संख्या में वे पड़ोसी प्रान्त में भाग जाते हैं। फिर जब कोर्ट उस गैरकानूनी सेना को निरस्त करने का आदेश देती है तो प्रशासन उसे अपने ही पुलिस फोर्स में शामिल कर लेती है। पुलिस वहां कानून के रखवाले नहीं बल्कि खुद कानून है।

वहां की सामान्य पुलिस भी ऐसे-ऐसे कारनामे करती है कि सुनने वालों के आंसू निकल आएँ। और जो बात सबसे ज्यादा अचंभित करने वाली है कि जुल्मी अपने कारनामों को छुपाने की कोशिश भी नहीं करते, बल्कि वे बड़ी शान से खुल्लम खुल्ला ही ये काम करते हैं। मसलन एक 13 साल का आदिवासी बालक, जो जंगल में महुए के पेड़ से लाल चींटी पकड़ के लौट रहा था, उसे सुरक्षा बल के जवान पकड़ लेते हैं और पेड़ से बांधकर चाकू घोंप-घोंपकर पूछताछ करते हैं। लड़के को कान में कम सुनाई देता था जिसके चलते वह उनके सवालों का सही-सही जवाब नहीं दे पाया; तो उसकी गांव वालों के सामने गोली मारकर हत्या कर दी जाती है। इसी तरह यह कानून के रक्षक पूरे-पूरे कस्बे की महिलाओं का खुल्लम-खुल्ला बलात्कार करते हैं, नियमित रूप से।

और अगर कहीं कोई हो जो हिम्मत करके इन वारदातों की जांच या उस पर रिपोर्ट लिखने की ज़ुरत करे, तो उन्हें देशद्रोही करार दिया जाता है। एक नामी मानवाधिकार कार्यकर्ता पर राजद्रोह का संगीन आरोप लगाकर उसे जेल में डाल दिया जाता है; दूसरे का आश्रम ढहा दिया जाता है; वकीलों को धमकाकर उन्हें उनके भाड़े के मकानों से जबरन बाहर निकाल दिया जाता है; पत्रकारों को या तो भगा दिया जाता है या फिर उन्हें जेल

में डाल दिया जाता है; जो प्रोफेसर इस पर पड़ताल करते हैं, उनपर हत्या का संगीन जुर्म थोप दिया जाता है; एक महिला कार्यकर्ता जो पुलिस के जुल्मों को उजागर कर रही थी उसे हवालात में टार्चर किया जाता है; एक और विद्यार्थी जो पुलिस और सुरक्षा बल के सबसे घिनौने वारदातों का विवरण बना रहा था उसे डरा-धमका कर भगाने की कोशिश की जाती है। और फिर पुलिस ही इन मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के खिलाफ प्रदर्शन करती है, उनके पुतले जलाती है।

ऐसा भी नहीं कि यह दहशत सिर्फ छत्तीसगढ़ की जनता पर ही छाई हो, उड़ीसा में भी कमोबेश यही कहानी है। हम सब को यह भी पता है कि देश के कई हिस्सों में, जैसे कि कश्मीर में, ऐसा कानून (AFSPA) लागू है जो कारगर रूप से यही कहता है कि कोई कानून नहीं है, बस सब कुछ सुरक्षा बल की मनमर्जी पर है। जब एक मानवाधिकार संस्थान कश्मीर मुद्दे पर बैंगलुरु में सम्मलेन करती है, तो उसके पदाधिकारियों पर देशद्रोह का इलज़ाम थोप दिया जाता है। तमिलनाडु में एक कलाकार, वहां की साम्राज्ञी पर एक गीत गाता है तो उस पर राजद्रोह का आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया जाता है।

कुछ अन्य जगहों पर जैसे कि गुजरात में, एक इशारे से गुंडे मवालियों को खुली छूट दे दी जाती है – उन्हें आश्वासन दिया जाता है कि वे लूटमार, चोरी-डकैती, हत्या-बलात्कार कुछ भी करें, उन्हें कुछ नहीं होगा। पुलिस की तरफ से बिल्कुल निश्चिन्त होकर वे यह सब काम कर सकते हैं। जब प्रशासन को लगता है कि कत्लेआम काफी हो चुका है, वह फिर एक इशारा करती है और दंगे खत्म हो जाते हैं। बाद में जो लोग दोषियों को कानून के दायरे में लाने की कोशिश करते हैं, कानून उन्हीं को दोषी करार देता है, और असली अपराधी न सिर्फ छूट जाते हैं बल्कि दिन-ब-दिन राजनैतिक तरक्की भी करते हैं।

बस इसी बात के चलते कि शासक जब मर्जी हमारे नाम मात्र के अधिकारों को छीन सकते हैं बिल्कुल वैसे ही जैसे स्विच दबाकर आप बत्ती बुझाते हो, इस व्यवस्था को तानाशाही करार देना एकदम सटीक है। और यह कोई नई बात नहीं है। 8 नवम्बर को जिस प्रकार नोटबंदी लागू की गई, वह बिल्कुल 25 जून, 1975 में लागू की गई आपातकाल (emergency) की याद दिलाती है, फर्क बस इतना है कि नोटबंदी का असर और भी व्यापक रहा और उसकी आर्थिक कड़ियाँ कहीं ज्यादा गहरी हैं। यह बात तय है कि देशी-विदेशी बड़ी पूँजी ने डिजिटल India बनाने के लिए दबाव डाला होगा और उनके लिए नोटबंदी बेहद लाभदायक भी रहा होगा, पर ऐसा लगता है कि इतना बड़ा निर्णय बस एक छोटी सी मंडली ने लिया है, जिनके सदस्य ऊँगली पर गिने जा सकते हैं।

प्रधानमंत्री ने इस देश के तथाकथित गरिमामय जनतांत्रिक ढाँचे की पूरी तरह से अवमानना की। संसद – यह किस चिड़िया का नाम है? संसद की पहले से रज़ामंदी लेना या फिर एक आर्डिनेंस ही जारी करना तो छोड़ो, हमारे चुने हुए प्रधानमंत्री ने इस अहम् विषय पर बाद में भी संसद में चर्चा करने से मना कर दिया।

और राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा? राष्ट्रपति को तो बताया भी नहीं गया, पूरे 10 दिनों बाद बस एक ब्रीफिंग की गई।

और मंत्रिमंडल (cabinet) को? उन्हें मोदी के भाषण के एक घंटा पहले सूचना दी गई – कोई सलाह-मशवरा नहीं, बस सूचना।

और राज्य सरकारों को? राज्य सरकारें, सरकार की वह इकाई हैं जिनका कि जनता से सीधा जुड़ाव है – उन्हें भी आम जनता के साथ ही नोटबंदी का पता चला, उससे पहले उन्हें भी कोई सूचना नहीं थी।

और देश के सर्वोपरि बैंक – रिजर्व बैंक को? RBI के गवर्नर को ज़्यादा से ज़्यादा एक दिन पहले सूचना दी गई और उन्होंने बिना कोई ना-नुकुर किये चुपचाप जहाँ हस्ताक्षर करने को कहा गया कर दिए। RBI के गवर्नर का ओहदा महज़ एक मूक चपरासी का ही रह गया (जैसा कि 1975 में राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद का हुआ था) और इस चपरासी ने भी अपनी तरफ से छोटी से छोटी जानकारी तक को संसद को देने से मना कर दिया, जैसे कि रद्द किये गये नोटों में से कितनी वापस बैंकों में जमा हुए, या फिर उसको नोटबंदी के बारे में पहले से पता था या नहीं, या फिर किस अधिनियम (Act) के तहत ये करवाई की गई।

और सुप्रीम कोर्ट? शुरुआत में थोड़ी बहुत आलोचनात्मक टिप्पणियां करने के बाद उसने भी बड़ी सफाई से हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। संक्षेप में कहा जाए तो इस पूरी घटना ने एक बहुत ही बढ़िया ढंग से हम लोगों को एक महत्वपूर्ण सबक सिखाया – हमारे इस लोकतंत्र के तमाम महिमामंडित संस्थानों की असलियत – और यह भी कि हम अपने जनतांत्रिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए इन पर कितना भरोसा कर सकते हैं।

राजनैतिक अर्थव्यवस्था

इस भाग में मैं तानाशाही और भारत की राजनैतिक अर्थव्यवस्था के ढांचे और चरित्र के संबंधों पर रोशनी डालना चाहूंगी; साथ ही उसके चलते लोकतांत्रिक अधिकारों के आन्दोलनों के सामने जो काम उभर के आते हैं उसे भी रखूंगी। पर उससे पहले, राजनैतिक अर्थव्यवस्था और लोकतान्त्रिक अधिकार का मतलब क्या है, उसे समझना होगा।

राजनैतिक अर्थव्यवस्था एक भारी भरकम जुमला है और सुनने में बेहद कठिन लग सकता है। पर आसान शब्दों में कहा जाए तो उसका सम्बन्ध सीधे-सीधे इस बात से है कि किसी समाज में ज़िंदा रहने के लिए ज़्यादातर लोगों को क्या करना पड़ता है।² या यूँ कहा जाए कि किसी भी समाज में अलग अलग समय, काल, स्थान, और शासन व्यवस्था में वहाँ की जनता को आजीविका के लिए किस तरह का श्रम करना

2 एंगेल्स के शब्दों में 'मोटे तौर पर कहा जाए तो राजनैतिक अर्थव्यवस्था उन नियमों का विज्ञान है जो इंसान के जीने के लिए ज़रूरी वस्तुओं का उत्पादन और वितरण को नियंत्रण करते हैं। मार्क्स का कहना है कि 'नागरिक समाज की संरचना को समझने के लिए उसकी राजनैतिक अर्थव्यवस्था की समझ ज़रूरी है।

पड़ता है (समाज से मतलब है कि वे परिस्थितियां जिनमें वे पैदा होते हैं या जीते हैं – चाहे वह इतिहास का कोई भी काल हो या फिर दुनिया के किसी भी कोने में हो)। भरपेट खाने के लिए लोगों को क्या व कैसा और कितना श्रम करना पड़ता है, पेट भरने के लिए काम करते हुए उनका समाज के अन्य लोगों, वर्गों व तबकों से कैसा रिश्ता कायम होता है, अपने और परिवार के लिए दो जून रोटी का जुगाड़ करने में लगे लोगों के जीवन से जुड़ी ये सच्चाईयां उनके जीवन पर इतनी हावी हैं कि इन्हें समझे बिना लोगों के साथ कोई भी सार्थक बातचीत नहीं की जा सकती।

आजीविका कमाने के लिए लोगों को श्रम करना पड़ता है, और श्रम करने के लिए लोगों को उन साधनों की जरूरत पड़ती है जो उत्पादन के लिए जरूरी हों, जैसे कि – ज़मीन, पानी, औज़ार, फ़ैक्ट्री, मशीन इत्यादि। पर इन साधनों पर किनका अधिकार होता है, या फिर कौन उसका मालिक है, या फिर किस के पास उतना पैसा है कि वह इन्हें खरीद सके या फिर भाड़े पर ले सके? यानि कि वे कौन से लोग हैं जो बिना श्रम किये अन्य लोगों के श्रम के आधार पर मुनाफा कमा सकते हैं? और वे कौन से लोग हैं जिनके पास साधन न होने के कारण, उन्हें चुपचाप हर शर्त मानकर श्रम करना पड़ता है?

उत्पादन के साधनों के मालिक और कंगाल श्रमिक के बीच का रिश्ता; जिनके पास साधनों का पूरा नियंत्रण है और जो औरों की मर्जी पर चलने पर मजबूर हैं – उनके बीच का रिश्ता, यही राजनैतिक अर्थव्यवस्था का सार है। यही तय करता है कि समाज में मेहनत के फल का बंटवारा कैसे होगा। वर्गों में बंटे समाज में ये रिश्ते जरूर गैरबराबरी के ही होंगे चाहे उस गैरबराबरी का स्वरूप कैसा भी हो – सामंती, पूंजीवादी, वगैरह।

इस गैरबराबरी को शासक वर्ग, जो एक अल्पसंख्यक वर्ग होता है या यूँ कहिये चंद लोगों से ही बना होता है, बड़ी मुस्तैदी से कायम रखता है, और लगातार उसे खाद-पानी देता है ताकि वह पनपता रहे। इसमें कोई शक नहीं कि जनता खुद भी तमाम संस्कार, रीति-रिवाज़ जैसे ऐतिहासिक बंधनों में बंधे होने के कारण इन हालातों को बनाए रखने में मदद करती है। यह सांस्कृतिक बेड़ियाँ इस दमनकारी तंत्र को विद्रोह से बचाए रखती हैं। और आखिर में जो इस सबके बावजूद आवाज़ उठाने की ज़ुरत करते हैं उन्हें शासक वर्ग दबाव, बल, सज़ा यहाँ तक की मौत से चुप करा देता है – पर किसी भी हालात में इस गैरबराबरी को खत्म नहीं होने देता।

इन दमनकारी परिस्थिति में श्रम करने पर मजबूर होने के कारण, श्रम का मतलब ही कष्ट या उत्पीड़न (टार्चर) हो गया है। यहाँ तक कि अंग्रेजी शब्द labour, work, toil सभी का मूल मतलब पीड़ा, कष्ट, यहाँ तक कि टार्चर है। मराठी में श्रम के लिए कष्ट शब्द का इस्तमाल होता है – जिसका मतलब हम सबको पता है। मानव इतिहास में हमेशा से ही लोगों को ज़बरदस्ती काम करवाया गया है चाहे गुलाम बनाके, या फिर

सामंती बंधुआ बनाके, या उत्पीड़ित जातियों में धकेलकर, या पूंजीवादी समाज में उसे मजदूर बनाके – जो महज भूख से मजबूर हो जाता है।³

वहीं दूसरी तरफ इतिहास में हमेशा से लोगों के श्रम से जो उपजता है (उगता है या बनता है) उस पर सारा मालिकाना हक ताकतवर, धनी वर्ग का ही होता आया है। इस तरह जब लगातार समाज की सारी धन-संपत्ति पर इस वर्ग का कब्जा होता रहता है तो वह और भी ताकतवर व धनवान बनता जाता है। ऐसे में जब कभी शोषित मजदूर वर्ग अपने कमरतोड़ श्रम के बोझ को थोड़ा कम करने का प्रयास करते हैं या फिर अपने उत्पादन का थोड़ा सा हिस्सा अपने नाम करने की कोशिश करते हैं जिससे कि वे अपनी जिंदगी, कुछ हद तक ही सही, अपनी शर्तों पर जी सकें, तब मुठ्ठीभर ताकतवर लोग अपनी सारी शक्ति उनके प्रयासों को कुचलने में लगा देते हैं ताकि सारी संपत्ति और कमाई पर उनका कब्जा बना रहे। समाज में शोषण का यही मूल कारण है – सामाजिक ढांचे को बनाए रखने के लिए तमाम तरीकों के सामाजिक-राजनैतिक शोषण के हथियारों व ताकत का इस्तेमाल किया जाता है, जिनमें कि सरकारी तंत्र (state) सबसे संगठित शक्ति है। इससे यह साबित होता है कि सामाजिक शोषण ढांचागत है – व्यक्तिगत नहीं।

यह शोषण मानव इतिहास के अलग-अलग समय में, अलग-अलग समाज में, भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुआ है। अलग अलग समाजों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ठोस विश्लेषण ही राजनैतिक अर्थव्यवस्था का सार है।⁴

लोकतान्त्रिक अधिकार

यही कारण है कि हमें लोकतान्त्रिक अधिकारों के मसले को ऐतिहासिक चश्मे से समझना होगा। अधिकार के बारे में आम समझ तो यह है कि वह कोई ऐसी चीज है जो समय के साथ नहीं बदलता और उसकी समझ भी भावात्मक है (ठोस के विपरीत) है जिसे 'छीना' या 'दिया' जा सकता है। वहीं यह माना जाता है कि मानव अधिकार कुछ 'प्राकृतिक नियमों' पर या फिर कुछ मानव मूल्यों पर आधारित हैं (जो इस समय UN चार्टर में समाहित हैं) जैसे कि संवैधानिक अधिकार संविधान में हैं, और कानूनी अधिकार अलग-अलग कानूनों में हैं, वगैरह वगैरह। और आज भी यह अधिकार भारत के अधिकांश नागरिकों के लिए सिर्फ कागजी हैं – उनका यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं है। इन अधिकारों के बारे में साफ़-साफ़ बोल पाना भी एक लम्बी लड़ाई की

3 काम की परिभाषा इससे ठीक विपरीत रही है, ज़्यादातर आदिम समाजों में जिन के बारे में पता चला है – वहां लोग शोषण या दमन के डर से हांके नहीं जाते थे बल्कि वहां लोग सामाजिक जिम्मेदारी, परंपरा, सम्मान पाने के लिए, बेहतर कारीगरी करके खुश होने जैसे सकारात्मक प्रोत्साहन के कारण काम करते थे। और यह तथ्य हमें भविष्य के समाज गढ़ने की संभावनाओं की तरफ इंगित करता है जहाँ काम दमन से नहीं करवाया जाएगा।

4 जिन हालातों में इंसान उत्पादन और विनिमय करते हैं वे एक से नहीं होते – अलग-अलग देशों में, एक ही देश में अलग-अलग जगह, अलग-अलग पीढ़ियों में, वे भिन्न होते हैं। इसी कारण से राजनैतिक अर्थव्यवस्था हर देश या हर समय के लिए एक सी नहीं हो सकती। राजनैतिक अर्थव्यवस्था दरअसल एक ऐतिहासिक विज्ञान है।

प्रक्रिया से संभव हो पाया है पर उसको सही मायने में लागू कर पाना अभी भी शेष है – जो कि भविष्य में ही होगा।

लोकतान्त्रिक अधिकार के लिए आंदोलन किसी विशेष राजनैतिक अर्थव्यवस्था में ही हो सकता है और ऐसी ठोस परिस्थिति किसी विशेष ऐतिहासिक प्रक्रिया से ही उभरती है।

बिना लड़े कोई भी अधिकार हासिल नहीं होता; और जो समाज शोषण पर आधारित हो उसमें जनतांत्रिक अधिकारों की लड़ाई में सबसे बड़ा रोड़ा शासक वर्ग या फिर उसका एक विशेष तबका ही होता है। कहने का मतलब यह है कि यह किसी लोकतंत्र विरोधी व्यक्ति विशेष या फिर गुट का काम नहीं, न ही किसी जन्मजात मानव प्रकृति के चलते ऐसा है – दूसरों का शोषण और दमन करने के पीछे ना तो कोई सहज मानव प्रवृत्ति है और ना ही ऐसा किसी धर्म या संस्कृति के चलते ही है। शोषण की जड़ में है सारी कमाई हड़पने की वह ज़रूरत, जो कि एक गैरबराबर समाज में शासक वर्ग को हमेशा ही रहती है, जिसके चलते वह लोगों को दबाकर रखता है ताकि लोग हिस्सेदारी न मांग सकें। हाँ यह बात ज़रूर है कि इसके चलते वह हर तरीके की प्रतिक्रियावादी (जो सही प्रगति के खिलाफ हो) संस्कृति और परम्पराओं को बढ़ावा देता है; जनता में कोई भी हानिकारक रुख पनपे तो उसे हवा देता है। ऐसी व्यवस्था में दूसरों पर धौंस जमाने वाले व्यक्तियों को भी आगे बढ़ने का खूब मौका मिलता है। यह सारी चीज़ें शासक वर्ग को जनता को दबाए रखने के अतिरिक्त हथियार मुहैया करवाती हैं, और इनके सहारे वह अपना वर्चस्व बेधड़क बनाए रखता है।

जैसा कि हमने पहले ही देखा है लोगों में लोकतान्त्रिक अधिकारों की चेतना उनके समाज की ठोस राजनैतिक अर्थव्यवस्था के चरित्र पर निर्भर करती है। अल्पविकसित समाजों में, जहाँ सामाजिक परिवर्तन आधा-अधूरा या टेढ़ा-मेढ़ा ही हो पाया है, और सब जगह समान भी नहीं, हर समाज अपने आप में एकदम निराला होता है, और उसी निरालापन से तय होती है उस समाज के लोगों की चेतना।

तो इसीलिए हमें जनतांत्रिक अधिकारों के लिए आंदोलन की ज़रूरत, और उसकी कारगर तैयारी कैसे की जाए, दोनों के लिए ही वहां की राजनैतिक अर्थव्यवस्था को समझना पड़ेगा।

*

अधिकार क्या है – इसकी अवधारणा ही एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया का नतीजा है।⁵ जब समाज वर्गों में बंटा, और फिर जब आर्थिक रूप से सशक्त शासक वर्ग को शोषित वर्ग को दबाए रखने के लिए सत्ता या राज (State) जैसा असरदार हथियार उभरा, उसी प्रक्रिया से 'अधिकार' की समझ भी उभरी। तिस पर भी

5 एंगेल्स बताते हैं कि 'आदिवासी समाज में शासक और शासित में भेद नहीं होता इसलिए अधिकार और ज़िम्मेदारी में भी भेद नहीं होता। यह सवाल कि सार्वजनिक मामलों में भागीदारी करना अधिकार है या ज़िम्मेदारी उनके लिए बेमायने है, उन्हें वह उतना ही अटपटा लगेगा जितना कि अगर कोई उनसे पूछे कि सोना, खाना या शिकार करना अधिकार है या ज़िम्मेदारी।

'अधिकार' – जो पूरे मानव जाति पर लागू हो ऐसी कोई हवाई बात नहीं थी, “ऐतिहासिक तौर पर अधिकार हमेशा ही किसी विशेष वर्ग को दिया जाता है और अमूमन वह संपत्ति के आधार पर तय होता है कि किसको कितना अधिकार है – जिसके पास ज़्यादा, उसका अधिकार भी ज़्यादा। और यह बात एकदम साफ़ शब्दों में ऐलान की जाती है कि संपत्ति के मालिकों को गरीब और फक्कड़ जनता से बचाना ही सत्ता (State) सरकार जैसे संगठन की मुख्य ज़िम्मेदारी है”।

यह स्थिति बदली, या फिर ऐसा लगा कि बदली, जब लोकतान्त्रिक मूल्यों पर गणतंत्र बने। पूंजीपति वर्ग और सामंती वर्ग के बीच में सदियों तक लम्बी लड़ाई चलने के बाद ही यूरोप में जनतांत्रिक (democratic) सरकार की स्थापना हुई। साल 1642 में हुआ इंग्लैंड का गृहयुद्ध⁶, सामंती वर्ग के खिलाफ पूंजीपति वर्ग की पहली निर्णायक जीत थी। इस संघर्ष में पूंजीपतियों ने अगुआई की और जनता ने सामंती ताकतों के खिलाफ उनका साथ दिया। संसद, जो कि व्यापारी और उद्योगपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी, उसके लिए इंग्लैंड के सम्राट (जो कि भूमिहर सामंतों के हितों का रक्षक था) को अपने बल पर उखाड़ फेंकना संभव नहीं था, और इसलिए उन्हें जनता की मदद की ज़रूरत पड़ी। पर जनता आखिर उनका साथ क्यों देती? उनका सहयोग पाने के लिए पूंजीपति वर्ग ने इस लड़ाई को कुछ इस तरह पेश किया कि लगे कि वे जनता के हित में दमनकारी सामंतवाद के खिलाफ हैं – यानी कि जीतने पर आम जनता सामंतों के चंगुल से आज़ाद हो जाएगी।

पर नए शासक वर्ग के लिए सबसे बड़ी दिक्कत की बात यह थी कि एक बार जनता को आपने राजनैतिक पहल करने को उकसा दिया, तो उस जिन्न को बहुत आसानी से बोतल में वापस कैद नहीं कर सकते आम जनता से मदद लेने के खतरों के बारे में संसद अनजान नहीं थी, पर उस समय उनके पास दूसरा कोई चारा भी नहीं था – शाही गुट को पछाड़ने के लिए उन्हें जनता से धन (टैक्स के ज़रिए) भी लेना पड़ा व उन्हें हथियारबंद भी करना पड़ा। इस ऐतिहासिक गृहयुद्ध के चलते इंग्लैंड में राजनैतिक और अभिव्यक्ति की आज़ादी की मानो एक विशाल लहर दौड़ गई, जो लगभग 18 साल तक बनी रही (1642 – 60)।

और उस दौरान कई नए राजनैतिक दल भी उभरे – The Levellers, The Diggers और The Ranters, जिन्होंने क्रांतिकारी विचारधाराओं का जमकर प्रचार प्रसार किया। साल 1642 में डिग्रेस पार्टी ने 1381 में हुए किसान विद्रोह के नारों का फिर से लोगों के बीच प्रचार किया 'जब आदम (दुनिया का पहला मानव) मिट्टी खोदता था और ईव (दुनिया की पहली मादा) कपड़े बुनती थी, तब कौन नवाबी करता था –

6 इससे पहले भी सामंतवाद के खिलाफ कई बड़े किसान विद्रोह हुए – जैसे कि 1381 में इंग्लैंड में हुआ किसान विद्रोह, जर्मनी का किसान युद्ध (1524-25) पर उन्हें सहयोगी वर्ग न मिलने की वजह से वे सफल नहीं हो पाए। सामंतवाद के खिलाफ किसान विद्रोहों का सबसे संपन्न इतिहास शायद चीन का रहा है – पर नए समाज और नए नेतृत्व के अभाव में उनका मौजूदा सामंती ताकतों ने ही इस्तमाल किया – महज़ एक राज घराने को हटाकर दूसरा गद्दी पर बैठ जाते, पर सामन्तवाद ज्यों का त्यों बना रहता।

(कहने का मतलब यह है कि मानव समाज में हमेशा से ही आज की तरह अमीर और गरीब तबका नहीं था – एक समय था जब सबको काम करना पड़ता था)।

पर अंत में यह क्रांतिकारी पार्टियां टिक नहीं पाईं और सामंती शासकों की जगह पूंजीवादी शासकों ने ले ली और फिर से जनता पर अपना राज कायम किया। पर इसके बावजूद भी आम जनता को राजनैतिक लड़ाई में झोंकने के कुछ स्थायी परिणाम रहे। क्योंकि उसके बाद राजगद्दी पर जो भी बैठा उसे हमेशा याद रहा कि जनता ने राजा चार्ल्स को सजाये मौत दी थी जैसा कि एक राजभक्त ने बड़े दुःख से कहा: *उन लोगों ने सरकार के सारे गूढ़ रहस्यों को इन जाहिलों के सामने खोल कर रख दिया (जैसे की सूअर के सामने मोती रख दें) और सामान्य जनता और फ़ौज को इतनी सारी गुप्त बातें बता दीं कि अब सरकार की कोई भी धाँस नहीं रही इसके चलते उन्होंने सामान्य लोगों को इतना अक्खड़ और खोजी बना दिया है कि अब उनमें इतनी विनम्रता ही नहीं बची कि उनपर सही ढंग से शासन किया जा सके।*

सामंतवाद और पूंजीवाद के बीच के लम्बे संघर्ष की सबसे निर्णायक घड़ी है फ़्रांसीसी क्रांति (1789 –93) – एक बेहद ही खूनी संघर्ष जिसमें बहुसंख्यक किसान और शहरी मज़दूरों ने (जो गिनती में बहुत ज़्यादा नहीं थे) पूँजीपति वर्ग का साथ दिया, इस उम्मीद में कि उन्हें सामंती दमन से आज़ादी मिलेगी।

फ़्रांसीसी क्रांति के समय यूरोप की अस्सी प्रतिशत जनता देहात में बसती थी। ज़्यादातर लोग किसी न किसी तरह की गुलामी या बंधन में जकड़े थे। फ़्रांस उस समय का सबसे ज़्यादा ताकतवर और आबादी वाला देश था फिर भी वहां की 80 प्रतिशत जनता पर्याप्त ज़मीन व संसाधन न होने के बावजूद एक विशाल शाही वर्ग और उनकी अय्याशियों के खर्चों का बोझ अपनी कंधों पर ढो रही थी – उनपर सरकार ने कई तरह के टैक्स लगा रखे थे। जुलाई 1789 में देश की राजधानी पेरिस में क्रांति छिड़ी तो उसकी चिंगारियां देहातों तक फैलीं और वहां भी विद्रोह होने लगे। ज़मींदारों के शाही महल और गिरजाघर और मठों पर किसानों ने हमला बोल दिया ताकि वहां पर रखे जागीरदारी और कर्ज़ के बहीखातों को जला सके। पर उन्होंने नए-नए उभरे देहाती पूंजीपतियों को भी नहीं बक्शा और उनकी संपत्ति पर भी धावा बोल दिया। चारागाहों पर फिर से अपना हक जमाया, बाड़ों को ध्वस्त किया, जंगलों में धावा बोला और सामुदायिक ज़मीन, जिस पर जागीरदारों ने कब्ज़ा कर लिया था, को वापस ले लिया या लेने की मांग रखी।

अगस्त 1789 में फ़्रांस के राष्ट्रीय संसद सभा ने एक व्यापक और अद्भुत घोषणा पारित की – **आदमी और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा** – उस दस्तावेज़ में ऐतिहासिक ऐलान दर्ज़ थे। मसलन आज़ादी का अधिकार, बोलने और सोचने की आज़ादी, सभी नागरिकों में समानता का अधिकार, कानून की उचित प्रक्रिया, धर्म की आज़ादी, नागरिकों को सार्वजनिक जीवन में भागीदारी करने की आज़ादी, इत्यादि। पर साथ ही साथ इस दस्तावेज़ में निजी संपत्ति का अधिकार भी दर्ज़ था 'जिसे पवित्र और कभी भी उल्लंघन नहीं

किया जा सके ऐसा अधिकार' माना गया है। पर इस अधिकार का लाभ कुछ चंद लोगों को ही मिल सकता था।

और इस बात ने एक दुविधा खड़ी कर दी – क्या गरीब निर्धन जनता, उस घोषणा में कहे गए अपने बाकी अधिकारों के ज़रिए, अमीर तबके की संपत्ति (यानी कि पूरे समाज की अधिकांश संपत्ति) को हासिल करने के लिए आंदोलन कर सकती थी? लेकिन इससे तो उस 'पवित्र' निजी संपत्ति के अधिकार का उल्लंघन हो जाता। और हकीकत में शहरी मजदूरों ने तो एक बराबरी के समाज की मांग करते हुए आंदोलन करना शुरू भी कर दिया, और कुछ क्रांतिकारी लोकतान्त्रिक सोच रखने वाले विचारक उनके प्रवक्ता भी बन गए। हैरत की बात तो यह है कि जनता द्वारा चलाया गया यह सीधा जनतंत्र जो सड़क से नियंत्रित होता था (महलों या संसद से नहीं) काफी दिन तक चला, और काफी मशक्कत के बाद ही पूंजीपति वर्ग इन 'उग्रवादियों' को कुचलने में सफल हुआ।

बुर्जुआ लोकतान्त्रिक अधिकारों (पूंजीवाद से जो उभरे) का शुरुआत से ही पूरी दुनिया पर गहरा असर रहा क्योंकि जिस राजनैतिक अर्थव्यवस्था के चलते वे उभरे, वे पहले से ही अपने उपनिवेशों – गुलामों और वहां की प्राकृतिक सम्पदाओं (जिनका वो भरपूर शोषण करते थे) पर पूरी तरह निर्भर थी। फ्रांस में जैसे ही 'मानव अधिकार की घोषणा' जारी की गई वैसे ही फ्रांसिसी उपनिवेश संत डोमिंगे (आज का हैती) की जनता ने उसे पकड़ लिया और उसी के तर्कों के सहारे उन्होंने एक प्रभावशाली आज़ादी का आंदोलन भी खड़ा किया – *गुलामी से आज़ादी और उपनिवेशवाद से आज़ादी* हैती में क्रांति हुई और इसमें इस घोषणापत्र की निर्णायक भूमिका रही, और वहां के समाज के अलग-अलग तबकों ने अपनी मांग रखने के लिए इसका सहारा लिया – गुलामों ने, बाकी मजदूरों ने, यहाँ तक कि गुलामों के मालिकों ने भी।

क्रांतिकारी लोकतान्त्रिक झुकावों (tendencies) की अंत में हार होने के बावजूद, अंग्रेजी और फ्रांसिसी क्रांतियों का असर स्थायी रहा – खासकर फ्रांसिसी क्रांति का। 1848 तक दुनिया भर में एक क्रांतिकारी लहर रही।

एक सीधी सी बात रखने के लिए हमने इतिहास का यह अद्भुत पन्ना दोहराया: एक बार जनता क्रांति में हिस्सा ले ले और सारी हदें पार कर दें (जैसा कि इंग्लैंड और फ्रांस में हुआ था जहाँ उन्होंने सम्राटों तक का क़त्ल कर दिया) उसके बाद नए शासक बेशक जनता को कुचलकर अमन-चैन शांति को फिर से कायम कर लें, उनका शोषण करें, उन्हें बेवकूफ भी बनाए, पर उन्हें उनकी पुरानी चेतना में वापस नहीं ढकेल सकते। सामंतवादी व्यवस्था में जिस तरह गौ बनकर जनता सारे जुल्म सह लेती थी और 'अपनी औकात में रहती थी', ऐसा फिर से हो पाना संभव नहीं था।

भारतीय हकीकत

अब हम अपने देश में आते हैं। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि 1947 में इंग्लैंड की संसद में पारित एक अधिनियम के तहत देश की सत्ता भारतीयों के हाथ आई। उस समय देश की बहुसंख्यक आबादी देहात में बसती थी और वे कृषि पर निर्भर थे। यह बात भी सभी मानते हैं कि उस समय के प्रचलित (जो अमूमन पाया जाता हो) कृषि सम्बन्ध औपनिवेशिक शोषण की ज़रूरतों के हिसाब से बने थे। वे इतने पिछड़े थे कि, न सिर्फ कृषि बल्कि पूरे देश की अर्थव्यवस्था में किसी भी प्रकार का विकास होना मुश्किल था। और इसके चलते पूरा समाज भी एकदम पिछड़ा हुआ था। ज़मींदार, साहूकार, बिचौलियों की कई परतें, अफसरों और अधिकारियों जैसी परजीवी (दूसरों के श्रम पर चलने वाले) ताकतें, किसानों की खून पसीने की कमाई को ँठकर उसे अपने ऐशो आराम में खर्च कर देते या फिर सट्टाबाजी या और किसी तरह के फ़ालतू के काम में लगा देते। कृषि अर्थव्यवस्था इन परजीवियों के चंगुल में इस कदर फंसी हुई थी कि असली उत्पादनकर्ता (किसान) के पास अपने लिए कुछ भी नहीं बचता था – यानी कि उनकी खरीदने की क्षमता बहुत कम थी। ऐसा भी नहीं कि उनको ज़रूरत नहीं थी, ज़रूरत तो बहुत थी पर पैसे नहीं थे। खरीददार न होने से औद्योगिक माल की बाज़ार में मांग भी बहुत कम थी जिसके चलते औद्योगिक विकास सही ढंग से नहीं हो पाया और उसका असर औद्योगिक मज़दूर पर भी पड़ा। वहीं दूसरी ओर इस देश के प्रगतिशील तबके ने यह मान लिया था कि इस नई व्यवस्था में जातिवाद अपने आप खत्म हो जाएगा।

पर इन सत्तर सालों में अनगिनत सरकारी समितियां, सर्वेक्षण, कानूनों के बावजूद इस परिस्थिति में बस नाम मात्र का ही सुधार हुआ है। इससे हम यह अंदाजा लगा सकते हैं कि इस परजीवी वर्ग की सरकारी तंत्र पर भी कितनी मजबूत पकड़ है। भूमि अधिग्रहण क़ानून के तहत जो ज़मीन अतिरिक्त घोषित की गई थी, वह कृषि योग्य भूमि का महज दो प्रतिशत ही थी, और उससे भी कम का बंटवारा किया गया, वो भी सबसे ओछी ज़मीन। इसका नतीजा यह रहा कि ज़मीन तो बँट गई पर भूमि वितरण की असमानता में कोई सुधार नहीं हुआ। हाल के आंकड़ों के अनुसार – 2.6% किसानों के पास 24.6% और 7.2% किसानों के पास 46.7% ज़मीन का मालिकाना हक़ है। भूमि सुधार पर 1973 में प्लानिंग कमीशन की आधिकारिक टास्क फ़ोर्स ने तो साफ़ शब्दों में कहा कि हमारे देश में भूमि सुधार का कार्यक्रम सफल क्यों नहीं हुआ: इस देश की ताकत के ढाँचे (power structure – या और शब्दों में कहा जाए तो ताकतवर वर्ग का दबदबा) को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि यहाँ की सरकार भूमि सुधार के लिए पर्याप्त राजनैतिक प्रतिबद्धता नहीं जुटा पाई।

और अब तो भूमि सुधार का मतलब ही बदल गया है

'भूमि सुधार' का सही मतलब है ग्रामीण सम्पदा का लोकतान्त्रिक पुनर्गठन (उचित बंटवारा) जो कि समूची राजनैतिक अर्थव्यवस्था के लोकतान्त्रिक पुनर्गठन का आधार है। पर समय के साथ आम चर्चा और सरकारी नीतियों में भूमि सुधार की इस मूल अवधारणा में बदलाव हुआ है – पहले तो समूचे कृषि क्षेत्र के विकास के

बदले 'हरित क्रांति जैसे कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया गया – जहाँ बस कुछ चुने हुए इलाकों में बहुत ज्यादा उत्पादन पर जोर दिया गया; और अब तो इसका मतलब हो गया है 'मुक्त बाज़ार' जो कि कृषि व उससे जुड़े तमाम क्षेत्रों में थोपा जा रहा है। नीति आयोग के भूमि संबंधों पर बने वर्किंग ग्रुप ने 2006 में इस पर यह टिपण्णी की :

अस्सी के दशक में जब उदारवाद ने भारतीय अर्थव्यवस्था में अपने पैर जमाने शुरू किए, पहले चोरी छिपे और 1991 के बाद एक आंधी की तरह, तब से देश की राजनीति से भूमि सुधार का एजेंडा मानो गायब ही हो गया। सरकार में बैठे 'व्यापारियों के हितैषी तो इस विषय पर बात करने से भी कतराते हैं। उन्हें यह चिंता खाए जाती है कि भूमि बाजार में अगर सरकार ने किसी भी तरह के हस्तक्षेप की बात भी की तो उससे व्यापारी/ बाजार के ऑपरेटर्स कहीं डर न जाएं। और कुछ करना तो दूर, उन्हें तो मौजूदा भूमि सुधार के कानून ही नागवार लगते हैं जो कि सत्तर के दशक में केंद्रीय सरकार के दिशा निर्देश पर लागू किए गए थे। उनके हिसाब से ये कानून एकदम बेकार और बेहूदे हैं क्योंकि वे पूँजी को आज़ादी से भू-बाज़ार में खेलने नहीं देते – उस पर जबरन अड़ंगे लगाते हैं। इसलिए एक ताकतवर तबका इस बात पर लगातार जोर लगा रहा है कि भू-सुधार के कानूनों को बदला जाए – लैंड सीलिंग एक्ट (ज्यादा से ज्यादा कितनी ज़मीन एक आदमी के पास हो सकती है) की सीमा या तो हटाई जाए या फिर उसे बढ़ाया जाए, ज़मीन को ठेके पर उठाने दिया जाए, और ठेका या पट्टे पर दी गयी ज़मीन की शर्तें बाज़ार द्वारा तय हों, बड़े-बड़े कॉर्पोरेट घरानों को भू-बाज़ार में घुसने की अनुमति दी जाए, पूँजीवादी खेती शुरू की जाए या फिर ठेके पर खेती करने दिया जाए, और पारम्परिक फसलों की जगह निर्यात उपयोगी फसल उगाई जाए।

अब 'भूमि सुधार' का मतलब है कि किसानों की बची-खुची कानूनी सुरक्षा को ध्वस्त किया जाए और उनकी संपत्ति बड़े ज़मींदारों और कॉर्पोरेट सेक्टर को सौंप दी जाए। इसी मंशा से अब भू ऑपरेटर्स/व्यापारी बड़े ज़ोरों से इस बात की मांग कर रहे हैं कि पट्टेदारी प्रथा को फिर से कानूनी जामा पहनाया जाए – जिसे एक समय पर परजीवी (parasitic) करार देकर गैरकानूनी बनाया गया था।

मौजूदा नवउदारवाद के शासन में जहाँ किसानों की आत्महत्या की वारदातें बहुत तेज़ी से बढ़ रही हैं, उससे जूझने के लिए हमारे शासक वर्ग का प्रस्ताव यह नहीं है कि कैसे व्यापारियों और साहूकारों का शोषण ख़त्म किया जाए। बल्कि हमारी सरकार तो इस प्रयास में लगी है कि कैसे कृषि व्यवसाय की दैत्याकार ग्लोबल कम्पनियाँ और भी आसानी से देश के कृषि क्षेत्र पर कब्ज़ा कर सकें – किसान आत्महत्या के मसले का अनोखा 'हल' ढूँढा है। पर सही मायने में देखा जाए तो किसान- आत्महत्या तथाकथित 'वैश्वीकरण' की नीतियों का सीधा परिणाम है: लागत की लगातार बढ़ती कीमतें, मोनसैंटो जैसी मल्टीनेशनल कंपनियों पर बीज के लिए निर्भरता, सरकारी विस्तार सेवाओं (किसानी के लिए शोध और ज्ञान की बातों के बारे में

किसानों को बताना, उन्हें लगातार शिक्षित करना जिससे किसान बदलते हुए हालात से जूझ सकें व नए ज्ञान का लाभ उठा सकें) को धीमे-धीमे बंद कर देना, जिससे कि किसान लगातार निजी विस्तार सेवाओं पर निर्भर होता जाए (निजी विस्तार सेवा जाहिर है कम्पनियाँ चलाएंगी और वे किसानों को अपना सामान लेने पर मजबूर करेंगी चाहे ज़रूरत हो न हो)। सुनियोजित ढंग से सरकारी खरीददारी को कम किया जाना, देश को कृषि-निर्यात के लिए खोल देना। इस सभी के चलते हमारे देश के किसान विश्व स्तर पर कृषि वस्तुओं की कीमतों में होनेवाली भयानक उतार चढ़ाव की चपेट में आ जाते हैं। किसानों की आत्महत्या का यही मूल कारण है।

जाहिर है कि कृषि क्षेत्र में किसी भी प्रकार के सचेत परिवर्तन के कार्यक्रम को एक राजनैतिक प्रक्रिया से ही अंजाम दिया जा सकता है, और उसके लिए राजनैतिक ताकतों का, यानि कि सत्तारूढ़ वर्ग का सामना करना होगा। पिछले 6 दशकों में चाहे जो भी बदलाव आया हो या फिर सरकारी खातों में पंचायतीराज के प्रसार के बारे में जो भी लिखा हो, हकीकत तो यह है कि आज भी इस देश के गाँव में छोटे किसानों (जिनका कि अपनी ज़मीन पर मालिकाना हक है) का लोकतंत्र नहीं है। बल्कि आज भी गांव कमोबेश, ग्रामीण मालदार वर्ग के मनमाना हरकतों का और भीषण दमनकारी ताकतों का केंद्र है, और यह ताकतवर वर्ग आज भी अमूमन उच्च जाति से ही आता है।

घरेलू सम्पदा के वितरण (अलग-अलग वर्गों में क्या-क्या घरेलू सामान है इसका लेखा जोखा) पर हुए एक शोध के रिपोर्ट में लिखा गया था कि 'आज भी ग्रामीण क्षेत्र में ज़मीन ही दौलत व ताकत के प्रतीक भी हैं और पैमाना भी'। ग्रामीण समाज में ज़मीन की मिल्कियत ही तय करती है कि सत्ता किसके हाथ में है।

अन्य कारक जैसे कि, उत्पादन के अन्य संसाधनों (औज़ार, मशीन, ट्रैक्टर, आदि) की मिल्कियत; सामूहिक संपत्ति (जो सिर्फ कहने को ही सामूहिक है जैसे कि पानी, सामुदायिक ज़मीन, सरकारी ज़मीन, आदि) पर कब्ज़ा, जातिगत दादागिरी, अधिकारियों और संसदीय राजनेताओं तक पहुँच व चुनावों पर प्रभाव – की भी भूमिका है, पर ज़मीन की मिल्कियत के साथ जोड़कर ही वे असरदार होते हैं। इसके अलावा क्रेडिट, लागत, उपज या पैदावार और श्रम के बाज़ारों (इनके खरीद फरोख्त) में भी बड़े ज़मींदारों का ही बोलबाला है।

संविधान, चुनाव, संसद, और तरह-तरह की संस्थाएं, लोकतंत्र होने का भ्रम तो पैदा करते हैं पर देश की राजनैतिक अर्थव्यवस्था को देखा जाए तो समझ में आता है कि यह सिर्फ दिखावे के लिए हैं, आम जनता के लिए यह सब कोई भी मायने नहीं रखता। हकीकत में आम जनता और सरकार के बीच का रिश्ता बेहद अलोकतांत्रिक (लोकतंत्र का एकदम उलट) है।

ढांचागत परिवर्तन या विकृति

पिछले कई दशकों से कृषि पर रोजगार-निर्भरता में गिरावट दर्ज हुई है, पर उससे कहीं ज्यादा तेज़ी से कृषि आमदनी में गिरावट आई है (कृषि का राष्ट्रीय आय में हिस्सा लगातार कम हुआ है), जिसका मतलब है कि

कृषि में लगे हुए लोगों की आय लगातार बाकी क्षेत्र के मुकाबले घट रही है। हाल फिलहाल में कृषि से पलायन की रफ्तार में तेज़ी आई है। इससे कुछ लोगों को लगने लगा है कि शायद देश की अर्थव्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन हो रहा है। पर कृषि से पलायन करके मज़दूर जा कहाँ रहे हैं? क्या उन्हें कहीं और इससे बेहतर आजीविका मिल पा रही है या महज़ उन्हें कृषि से ज़बरन *बाहर ढकेला* जा रहा है?

सचमुच बहुत सालों से (या यूँ कहें कि 1947 से ही) इस बात की उम्मीद की जा रही है कि भारत की अर्थव्यवस्था कृषि और अनौपचारिक क्षेत्र जैसे महज़ गुज़र-बसर करने लायक आजीविका से निकलकर पूंजीवादी व्यवस्था में तब्दील हो जाएगी; ऐसी व्यवस्था में जिसमें ज़्यादातर काम औपचारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में होगा। श्रम बाज़ार भी नियम अनुसार चलेंगे। मज़दूर को नियमित आय मिलेगी, उसे स्वरोज़गार (जो कि एकदम ही अनिश्चित और छोटे रकम पर गुज़र-बसर करने की मजबूरी का एक और शब्द है) पर निर्भर नहीं होना पड़ेगा, वह या तो पूरी तरह नौकरी पर होगा या फिर पूरी तरह बेकार, और नौकरी औपचारिक होगी (यानी कि काम के घंटे और क्या काम है, काम की सुरक्षा, काम करने के नियम, रिटायरमेंट के बाद की सुविधाएं, और अन्य कानूनी सुरक्षा पहले से ही तय रहेगी) यह भी उम्मीद की गयी थी कि सभी कामों में यूनियन होगा और औद्योगिक संबंधों (इंडस्ट्रियल रिलेशन्स) में सामूहिक सौदेबाजी और यूनियन की निर्णायक भूमिका होगी।

पर यथार्थ में देखा जाए तो भारत की कहानी कुछ और ही रही:

- स्वरोज़गार यानी कि – कृषि, छोटा व्यापारी, बहुत छोटे और घरेलू उद्योग, कारीगर, खुदरा व्यापारी, इत्यादि, का हिस्सा कम तो हो रहा है पर बहुत ही धीमे-धीमे और आज भी वह 50 प्रतिशत के ऊपर ही होगा।
- नियमित पगार पाने वालों की कुल रोज़गार के अनुपात में शायद ही बढ़ोत्तरी हुई है, और वह बहुत थोड़े लोगों को ही मिलती है।
- **Casual** या अस्थायी श्रमिकों के अनुपात में बहुत बढ़ोत्तरी हुई है और वर्तमान में हर तीसरा श्रमिक अस्थायी या **casual** है। यानी कि कुछ लोग अब स्वरोज़गार से अस्थायी कामों में चले गए हैं पर उन्हें नियमित रोज़गार नहीं मिला।

और:

- संगठित क्षेत्र का अनुपात अभी भी कुल रोज़गार का एक बंटा पांच ही है – यानी कि 5 में से 4 मज़दूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं।
- पर उससे भी ज़रूरी बात यह है कि 'संगठित क्षेत्र में नौकरी' का मतलब कतई यह नहीं कि नौकरी पक्की हो। पिछले कुछ सालों से संगठित क्षेत्र में अनौपचारिक नौकरियों का अनुपात लगातार बढ़ा है (अस्थायी श्रमिक (**casual**), ठेका श्रमिक (**contract workers**) अपरेंटिस (**apprentice**) – जिनकी नौकरी में न तो स्थिरता है, न ही सुरक्षा और उन्हें किसी भी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ भी

उपलब्ध नहीं हैं)। और हकीकत यह है कि वर्तमान समय में संगठित क्षेत्र में लगे अधिकाँश कर्मचारियों की नौकरी भी अनौपचारिक है।

- कुल कामगारों के 82 प्रतिशत लोग असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। इस तरह कुल अनौपचारिक कामगारों की संख्या (संगठित और असंगठित मिलाकर) 92 प्रतिशत है। इसलिए हमारे देश में, कुछ गिने चुने नौकरियों को छोड़कर, आम नौकरियाँ एकदम ओछे प्रकार की हैं जिनमें रोज़गार की न्यूनतम एवं उचित सुविधाएँ भी नहीं मिलती हैं।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि ऊपर बताए गए हालात पारम्परिक विकास के सिद्धांतों (theory) या वर्तमान में विकसित माने जाने वाले देशों के ऐतिहासिक अनुभवों से एकदम मेल नहीं खाते।

1991 में हुए उदारीकरण के बाद कृषि में रोज़गार का अनुपात कम तो हुआ है, पर आज भी बहुसंख्यक लोग कृषि में ही लगे हैं। उद्योग क्षेत्र में रोज़गार बढ़ा तो है पर बहुत कम – कुल रोज़गार का मात्र 13 प्रतिशत उद्योग क्षेत्र में है – जिसमें सभी प्रकार के उद्योग शामिल हैं – छोटी और बहुत छोटी इकाइयाँ भी।

सेवा क्षेत्र में कुछ तरह की नौकरियाँ बढ़ी हैं – व्यापार, यातायात (transport), भंडारण/गोदाम (storage), होटल और रेस्तरां, दूरसंचार, वित्त (finance), रियल एस्टेट (मकान, दुकान, ज़मीन), वाणिज्य सेवाएं, इत्यादि। इन क्षेत्रों में कई सारी 'मध्यम वर्गीय' नौकरियाँ हैं। पर इनमें बड़े पैमाने पर असुरक्षित और कम वेतन वाली नौकरियाँ भी शामिल हैं। साथ ही साथ मध्यम वर्गीय' नौकरियों का एक मुख्य स्रोत – सामुदायिक, सामाजिक और व्यक्तिगत सेवाओं में (जो ज़्यादातर सरकारी होते थे और इसलिए सुरक्षित थे) नौकरियाँ घटी हैं।

बस एक निर्माण ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें नौकरियाँ नाटकीय रूप से बढ़ीं हैं। 1993-94 में कुल रोज़गार में निर्माण का अनुपात 3.1% हुआ करता था और 2011-12 में वह बढ़कर 10.6% हो गया है। निर्माण का काम बहुत ही मेहनत वाला है और समूचे क्षेत्र में शायद ही कोई नौकरी हो जो औपचारिक या फिर सुरक्षित हो। कोई भी ट्रेड यूनियन या सामुदायिक संगठन के न होने के कारण मज़दूरों की जान या किसी भी तरह की सुरक्षा की कोई जवाबदेही नहीं है। और शायद इसीलिए देश के सबसे गरीब राज्यों से ही निर्माण मज़दूर पूरे देश भर में निर्यात किये जाते हैं – छत्तीसगढ़, झारखण्ड, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, इत्यादि।

लोगों की ज़िंदगी

तो यह है हमारे देश में रोज़गार की सच्चाई – इसी कमाई से इस देश के अधिकाँश लोग खाते हैं और बाकी ज़रूरतें भी पूरी करते हैं। हाँ सरकारी आंकड़ों में ज़रूर गरीबी लगातार घट रही है और अब तो महज़ 20 प्रतिशत लोग ही आधिकारिक रूप से गरीब हैं। विश्व बैंक तो इससे भी एक कदम आगे निकल गया है – हाल में छपे एक दस्तावेज़ के अनुसार भारत में अब (2011 - 12) मात्र 12.4 प्रतिशत आबादी ही गरीब बची है।

इस तरह चलता रहा तो जल्द ही देश में गरीबी पूरी तरह खत्म हो जाएगी, हकीकत में न सही, देशी और विदेशी अर्थशास्त्रियों और नौकरशाहों की कल्पना में ही सही।

इसके ठीक विपरीत एक और सरकारी कमिटी – NCEUS या प्रचलित भाषा में जो *सेनगुप्ता कमिटी* के नाम से जानी जाती है, ने यह ऐलान करके सनसनी फैला दी थी कि 2004-05 में देश की कुल आबादी में 77 प्रतिशत लोग 'गरीब और कमजोर' थे। और तब से, सेनगुप्ता कमिटी के यह भयानक आंकड़े, शासक वर्ग के सामाजिक खर्च को कम करने के जूनून पर साये की तरह मंडरा रहे हैं। वहीं 'प्रतिष्ठित' अर्थशास्त्रियों की फ़ौज सेनगुप्ता कमिटी की रिपोर्ट को बदनाम करने की कोशिश में लगी हुई है, वे यह बात साबित करना चाहते हैं कि उनके शोध के तरीके ही गलत थे। पर उनके लिए अफ़सोस की बात है कि अन्य तरीकों से भी 'गरीब और कमजोर' की दर कमोबेश उतनी ही बैठ रही है। इसके अलावा यह भी तथ्य सामने आया है कि देश के अधिकांश लोगों को पर्याप्त और भरपेट भोजन भी नहीं मिल रहा है। एक आंकलन के अनुसार, देश में चार में से तीन लोग आधिकारिक मानदंड से तय किए गए आवश्यक पोषण (कैलोरीज) से कम खाते हैं। और उसमें भी जो बात गौर करने लायक है वह यह है कि उनके आहार में प्रोटीन की मात्रा लगातार घट रही है – यानी कि वे टिल्ली टिल्ली कर भात या रोटी तो टूस लेते हैं पर उचित पौष्टिकता नहीं जुटा पाते।

देहात क्षेत्र के आधे से ज़्यादा मकान कच्चे हैं – यानी कि वे घास, बांस, मिट्टी, कच्चा ईंट, इत्यादि सामान से बने हैं। उनमें 70 प्रतिशत घरों में एक या दो कमरे ही हैं। ग्रामीण क्षेत्र में 90 प्रतिशत से कम बच्चे ही हाईस्कूल तक पहुँच पाते हैं। 2011 की जनगणना से यह पता चला है कि दो-तिहाई लोगों को साफ़ पीने के पानी का स्रोत भी उपलब्ध नहीं है।

हमारे लोगों का शारीरिक स्वास्थ्य भी दयनीय है। हमारे बच्चे कुपोषित, अविकसित (सामान्य से छोटे कद के) हैं, और उन्हें खून की कमी भी है। इस सब के चलते उनका मानसिक विकास भी ठीक तरह से हो नहीं पाता। फूड एंड एग्रीकल्चरल आर्गेनाइजेशन (FAO) के अनुसार दुनिया की कुल कुपोषित आबादी में भारत का हिस्सा 1990-92 से 2010-12 में बढ़ा है – उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के महान युग में।

यहां हमने तीन मुद्दों पर बात रखी है – भूमि सुधार की असफलता, रोज़गार के अविकसित और विकृत स्वरूप और जनता की बदहाल अवस्था। वर्तमान में इन तीनों मुद्दों के आपसी रिश्तों को नज़रअंदाज़ करना एक फैशन सा हो चला है। जब कि यह बात पूरी तरह से सिद्ध हो चुकी है कि *किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए आमूल भूमि सुधार होना बेहद ज़रूरी है – न सिर्फ़ वहां की जनता का हाल सुधारने के लिए, बल्कि एक सम्पूर्ण औद्योगिक विकास की नींव डालने के लिए जिससे कि रोज़गार का वास्तविक विविधीकरण हो सके (कहने का मतलब है कि कई तरह की नौकरियां मिलने की संभावना बने)।*

विकास ने एक विकृत राह पकड़ी है – जिसमें देश की 92 प्रतिशत आबादी को अनौपचारिक टुटपूँजिया नौकरियों में फांस रखा गया है, जहाँ न तो उचित तनखाह मिलती है, न ही कोई सुरक्षा है। इस तरह जूझने से उनका शरीर और उनकी आत्मा इस कदर टूट चुकी है कि संभलना मुश्किल है। वहीं रोज़ लाखों करोड़ों की तादाद में लोग इन कम उत्पादकता वाली नौकरियों के समंदर में गोते लगा रहें हैं जहाँ पहले से ही एक विशाल आबादी तैरने की नाकाम कोशिश कर रही है। पर इन लोगों की कमर-तोड़ मेहनत के बावजूद उत्पादकता इतनी कम क्यों है? पूरी अर्थव्यवस्था में निवेश (पूंजी कहाँ और कितनी लगाया जा रही है) का जो स्वरूप है वह इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार है – यहाँ पूंजी का बड़ा अंश संगठित क्षेत्र की चोटी पर लगाया जाता है और आम मज़दूरों की फ़ौज को सिर्फ़ गुज़र बसर हो सके ऐसे कामों के गड्डे में धकेल दिया जाता है। जो देश एक मॉडर्न अर्थव्यवस्था होने का दावा करता हो, वहाँ बहुसंख्यक लोग महज़ गुज़र बसर करने जैसे छोटे काम में लगे हों, और उनकी संख्या कम होने के बजाय बढ़ रही हो, यह अपने आप में एक विडम्बना है।

और साथ ही साथ यह अधपेटा खाकर आधा-अधूरा काम करनेवाली मज़दूरों की फ़ौज अर्थव्यवस्था के शिखर पर बैठे चुनिंदा लोगों को और ज़्यादा पनपने में मदद करती है। लेकिन यह भूखे नंगे अनौपचारिक श्रमिक इन अमीरों की कैसे मदद करते हैं?

1. सस्ता सामान और सस्ती सेवाएं उपलब्ध कराकर – जो सब-कांट्रेक्टिंग (या बड़े ठेकेदार द्वारा दिए गए छोटे-छोटे ठेके) द्वारा सीधे कंपनियों के उत्पादन में शामिल हो जाते हैं।
2. सस्ते दरों में माल और सेवाओं का उत्पादन करके – जो कि कंपनियों में काम कर रहे मज़दूर और कर्मचारी खरीदते हैं और इसके चलते उन्हें ज़्यादा पगार नहीं देना पड़ता और कंपनी का पैसा बच जाता है।
3. और सबसे अहम्, ये विशाल बेकार और अर्ध बेकार की फ़ौज एक तलवार की तरह नौकरी करनेवालों के सर पे लटकती रहती है – उनको लगातार अपनी नौकरी खोने का डर लगा रहता है और इसलिए वे मालिकों की जायज़, नाजायज़, सभी शर्तें मुँह सीकर मान जाते हैं। कर्मचारियों को लाइन पर रखने का मालिकों का यह सबसे असरदार हथियार है।

इस प्रकार जैसे जैसे बेकार और अर्ध बेकार की फ़ौज बढ़ती जाती है, कॉर्पोरेट क्षेत्र पर चर्बी चढ़ती जाती है। राष्ट्रीय आय में औपचारिक क्षेत्र का हिस्सा बढ़ने के बावजूद नौकरियों का अनुपात कम हुआ है।

गौर करनेवाली और उल्लेखनीय बात यह है कि साल 2000 से 2016 के बीच देश के सबसे अमीर 1 प्रतिशत लोगों का पूरे देश की सम्पदा पर कब्ज़ा 36.8% से बढ़कर 58.4% हो गया है। देश में खरबपतियों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी है, कॉर्पोरेटों की संपत्ति और शक्ति में भी तेज़ी से इज़ाफ़ा हुआ है।

देश की संपत्ति में विदेशियों का कब्ज़ा भी खूब तेज़ी से बढ़ा है – बड़ी तादाद में नयी विदेशी कम्पनियाँ बाज़ार में आईं और यहाँ अपने व्यापार को फैलाया, पर इसके अलावा हमारे शेयर बाज़ार और ऋण बाज़ार में भी

विदेशी निवेशकों ने भारी निवेश किया और हमारी कंपनियों को भी बड़ी मात्रा में वाणिज्यिक कर्ज (commercial लोन) देकर भारत की अर्थव्यवस्था पर अपनी पकड़ और मजबूत की है। इसके तीन तरह के परिणाम हो सकते हैं:

1. देश से बड़े पैमाने पर संपत्ति का पलायन – जिसकी तुलना आंकलन के अनुसार अंग्रेज़ शासन के दौरान हो रहे लूट से की जा सकती है।
2. देश की किसी भी नीति से अगर यह विदेशी निवेशक नाखुश हुए तो वे यहाँ से चले जाने की धमकी दे सकते हैं, और उसका परिणाम होगा भयानक संकट। इसलिए सभी सरकारें चाहे वे किसी भी राजनैतिक दलों से सरोकार रखती हों करीबन एक जैसी नीतियां अपनाती हैं – वही जो विदेशी निवेशकों को भाए।
3. और फलस्वरूप संसदीय लोकतंत्र के रस्मों रिवाज़ और भी खोखले बनते जाते हैं।

व्यापक उत्पीड़न और विभाजन

भारत का मजदूर वर्ग शायद दुनिया का सबसे भेदभाव वाला मजदूरवर्ग है और कई तरह से विभाजित है। वह न सिर्फ लिंग, भाषा या प्रान्त से विभाजित है पर धर्म और जाति जैसे गुजरे ज़माने की व्यवस्था से भी बंटा हुआ है। सबसे खराब हालत दलित और आदिवासियों की है (जो कुल आबादी का एक चौथाई हिस्सा हैं) – उनमें सबसे ज़्यादा गरीबी, कुपोषणता और समय से पहले मृत्यु दर, और सबसे कम शिक्षा के मौके/पहुँच (access to education) पाई जाती है।

दलितों का अमूमन खेती योग्य ज़मीन पर हक नहीं होता है और यह उनके लिए बहुत ही घातक है क्योंकि 80 प्रतिशत दलित देहातों में बसते हैं और दो-तिहाई खेती पर निर्भर हैं (आजीविका के लिए)। इसके चलते उन्हें जबरन दूसरों के खेतों में मजूरी करनी पड़ती है। नतीजतन उन पर सदियों से जो जातिगत जुल्म और उत्पीड़न होता आया है (जो हमारे देश का एक अनोखा सामाजिक लक्षण है और शायद ही दुनिया में कहीं पाया जाता है) उसे लगातार हवा मिलती है, और समय के साथ कमज़ोर होने की जगह वह और भी मजबूत होता जाता है। नीति आयोग के एक Expert Group (विशेषज्ञ समूह) ने यह टिपणी की :

हमारे देश में आज भी दलित जातियों के लोगों को कई तरह के सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ता है मसलन – खाना, कपड़े, शादी और नौकरी से सम्बंधित। यहाँ तक कि छुआछूत, जो कि भेदभाव करने का सबसे खुल्लम खुल्ला तरीका है, वह भी कई मायनों में आज भी कायम है। ... देहात क्षेत्र में दलितों पर उत्पीड़न, जरायम और मानव अधिकार का उल्लंघन आज भी बड़े पैमाने पर होता रहता है। उनके सभी प्रकार के अधिकारों का उल्लंघन होता है – जैसे कि नागरिक अधिकार (वोट देने का अधिकार, सार्वजनिक स्थानों में जाने का अधिकार, आदि) सामाजिक अधिकार (घूमने फिरने की आज़ादी, पढ़ने लिखने का मौका, आदि) आर्थिक अधिकार (संपत्ति का अधिकार, नौकरी बदलने का, धंधा शुरू करने का, मजदूर

यूनियन में शामिल होने का) और राजनैतिक अधिकार। इस जुल्म के ढांचे को तोड़ने के लिए संविधान में और इसके अलावा तमाम कानून और नीतियों में शोषित तबकों को कई सारे हक दिए गए। पर वे लागू कभी भी हो नहीं पाए क्योंकि परम्परागत कारणों से उनको अमल में लाने की प्रक्रिया पर हमेशा से ताकतवर तबके का ही बोलबाला रहा है।

मैं यहाँ अनुसूचित जनजाति पर ज़्यादा कुछ नहीं बोलूंगी। आखरी जनगणना के मुताबिक उनकी आबादी 10.4 करोड़ थी, अगर उनका अलग देश होता तो आबादी के अनुसार उनका नंबर दुनिया के सभी देशों में बारहवां (12) होता, जापान के ठीक बाद। उनकी बदहाली का मुख्य कारण है शासक वर्ग द्वारा उनके जंगल और जंगली सम्पदा पर अधिकार छीन लेना और उन्हें जबरन वहां से भगा देना। अजीब विडम्बना है कि इन जंगल निवासी जनता का ज़मींदार दिल्ली में रहता है और वहीं से अपना हुक्म चलाता है – उनकी पुलिस और उनका पूरा वन-विभाग, ज़मीनी स्तर के शोषकों का – जैसे कि साहूकार, ठेकेदार, लकड़ी माफिया, और वर्तमान में कंपनियों का, पूरा सहयोग करते हैं। यह सिलसिला अंग्रेजी राज से आज तक निरंतर चला आ रहा है।

मैं यहाँ मुस्लिमों की हालात पर भी ज़्यादा बात नहीं रखूंगी, जो कि देश की आबादी के 14 प्रतिशत हैं। जैसा कि सचर कमेटी ने टिप्पणी की थी, मुस्लिमों की आर्थिक स्थिति कई मायनों में दलित आदिवासियों जैसी ही है – वे भी बेहद गरीबी और सामाजिक भेदभाव के शिकार हैं (भेदभाव के तरीके कुछ अलग जरूर हो सकते हैं)। कमेटी ने यह भी साबित किया कि उनकी बेहद गरीबी के कारण ही उन्हें – शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं, नौकरी (खासकर संगठित क्षेत्र में नौकरी), बैंक लोन, इत्यादि नहीं मिल पाते।

लैंगिक विषमता और उसके चलते दमन (याद रखने वाली बात है कि लिंग एक सामाजिक संरचना है प्राकृतिक नहीं) को भी हम नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। काम का स्वरूप (यानि किस प्रकार का काम है) और उसकी शर्तें, – महिलाओं को इन दोनों प्रकार के भेद भाव झेलने पड़ते हैं। देश की महज़ एक चौथाई महिलाएं (15 साल से ऊपर के उम्र की) आधिकारिक रूप से मज़दूर वर्ग में शामिल हैं, इसके मुकाबले पुरुषों में यह आंकड़ा तीन चौथाई है। शायद ही दुनिया में कोई और अर्थव्यवस्था हो जहाँ महिलाओं को औपचारिक रोज़गार के दायरे से इस कदर बाहर रखा जाता हो।

पर इसका कतई यह मतलब नहीं कि भारत में महिलाएं काम नहीं करतीं! इसका सीधा मतलब है कि वे घर के अंदर और बाहर काम तो करती हैं पर उसके लिए उन्हें कोई पगार नहीं मिलती; वे काम सामाजिक प्रजनन (परिवार का पलना और बढ़ना) के लिए बेहद जरूरी हैं, पर इस लिंग विषमता पर आधारित सामाजिक ढांचे के चलते उनकी कोई कदर नहीं – या उनका मूल्य जबरन कम करके आँका जाता है। इसी सामाजिक अवमूल्यन (ज़बरदस्ती कम दाम आंकना) के चलते देश का जो पारम्परिक तरीके से जीडीपी का हिसाब करने का तरीका है उसमें इन कामों को नहीं शामिल किया जाता जो अमूमन महिलाएं ही करतीं हैं

(घर की देखभाल, घर को सुनियोजित रखना और ज़रूरी खरीददारी भी करना, अपने परिवार के बच्चों, बूढ़ों, विकलांगों, और बीमारों की देखभाल करना, और अपने अड़ोस पड़ोस के लोगों की भी सहायता करना –सामुदायिक कामों में हाथ बंटाना)⁷। जिस समाज में जितना महिलाओं का शोषण होगा, उतना ही उनके द्वारा किये गए कामों का सामाजिक मूल्य कम होगा, और उसी अनुपात में मालिक, पुरुष कामगारों की पगार में भी कटौती कर सकेगा। और यह बात महिलाओं द्वारा किये जाने वाले वेतन वाले कामों में दुगना सही है।

जैसे-जैसे कृषि से आय कम होती गई है, उसी अनुपात में वह काम अब महिलाओं के जिम्मे लगा दिया जा रहा है, पर ज़मीन उनके नाम नहीं की जाती, वह पुरुषों के कब्जे में ही रहती है। चार में से तीन महिला श्रमिक कृषि में हैं। करीब पांच में से दो हाशिये पर किसान, अधिकांश जंगल/बगीचों में काम करनेवाले मज़दूर, और पशुपालन करने वाले पांच में से तीन मज़दूर महिला हैं। ज़ाहिर है इस स्थिति में कृषि संकट की मार महिलाओं को ज़्यादा झेलनी पड़ रही है, और उसका सामना करने के लिए भी महिलाओं को संगठित करना और आंदोलन खड़ा करना बेहद ज़रूरी है। और शायद यह हो भी रहा है, देश भर में पहले के मुकाबले आज कहीं ज़्यादा महिलाएं जन आन्दोलनों में हिस्सा ले रहीं हैं।

सामाजिक विभाजन और आर्थिक विषमता के बीच सीधा सम्बन्ध है, और इसका अंदाज़ा हमें इस तथ्य से भी लगता है कि – जनरल (सामान्य) कैटेगरी के परिवारों की औसत प्रति व्यक्ति खपत (consumption), SC, ST और मुस्लिम परिवारों के मुकाबले 80 प्रतिशत ज़्यादा है। और अनगिनत तरीकों से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक मानदंड, लगातार इस बहिष्कारी प्रथा को बनाये रखने में मदद करते हैं। पर इसे हिंसा के ज़रिए भी बनाए रखा जाता है। और हिंसा की धमकी कभी भी सतह से ज़्यादा दूर नहीं होती। मौजूदा व्यवस्था को किसी भी तरह की चुनौती – चाहे वो मनोवैज्ञानिक या सांस्कृतिक ही क्यों ना हो – को सज़ा दी जाती है। पांच साल पहले हरियाणा के मिर्चपुर जिले में एक सत्तर साल के दलित और उनके बेटे को जिन्दा जला दिया गया था व 18 दलित परिवारों के घर भी जला दिए गए थे। हाल ही में वहां एक और घटना की खबर सुर्खियों में आई – सरकारी स्कूल में पढ़ रहे एक दलित लड़के ने 1600 मीटर दौड़ जीत ली – इसी बात से वहां के उच्च जाति के लोग बेहद नाराज़ हो गए। उसके एक महीने बाद, उच्च जाति के लोगों ने उस बच्चे को और उसके 8 साथियों को घेर लिया और लोहे के डंडे से पीटा। मुसलमानों और आदिवासियों पर की जाने वाली शारीरिक हिंसा (जिसके ख़ौफ के चलते उन्हें आम शहर से अलग

7 देश में किये गए कुल काम के घंटों में महिलाओं का हिस्सा पुरुषों से ज़्यादा है, पर उनमें सिर्फ 35 प्रतिशत घंटों की ही जीडीपी में गणना होती है; बाकी 65 प्रतिशत घंटे सामाजिक तौर पे तो बेहद ज़रूरी हैं पर वे जीडीपी को नहीं बढ़ाते। इसके मुकाबले पुरुषों के 92 प्रतिशत काम के घंटे जीडीपी के तहत आते हैं। महिलाएं कुल काम के घंटों में 54 प्रतिशत करती हैं (पुरुष 46%), और उनके काम के 90 प्रतिशत समय उन ज़रूरी कामों में जाता है जिनके बिना सामाजिक प्रजनन (परिवार का पलना – बढ़ना और जन्म देना) असंभव है, फिर भी उनका स्थान पुरुषों से कहीं नीचे है क्योंकि उनके काम जीडीपी में सिर्फ 31 प्रतिशत योगदान करते हैं।

बस्तियों/मुहल्लों में रहना पड़ता है जहाँ सिर्फ उन्हीं के कौम के लोग रहते हैं और उनको अपने समुदाय के संभ्रांत लोगों पर पूरी तरह निर्भर रहना पड़ता है –खासकर मुसलमानों को) पर विस्तार से बात तो होनी चाहिए, पर हम यहाँ नहीं रखेंगे।

टुकड़ों में बंटी अलग-थलग सी चेतना

ऊपर दिए गए तथ्यों से हमें आम लोगों की जिंदगी के भौतिक (यथार्थ) आधार की एक झलक मिलती है, और यही भौतिक आधार उनकी चेतना को संजोती है। कृषि के अलावा ज़्यादातर काम का चरित्र इतना अलग-थलग है कि करोड़ों की तादाद में होने के बावजूद मज़दूरों में एक टूटी-फूटी और अकेलेपन की चेतना ही बन पाती है; एक बढ़ते हुए औद्योगिक मजदूरवर्ग की सामूहिक चेतना नहीं बन पाती। जहाँ तक किसानों का सवाल है वे एक कृषि आंदोलन के ज़रिए ही सामूहिक चेतना गढ़ सकते हैं; और चूँकि वास्तविक रूप से लोकतान्त्रिक किसान आन्दोलनों को काफी झटके लगे हैं, वे वर्तमान में कुछ सुस्त से हैं।

बीसवीं सदी में, इस देश में, किसान आन्दोलनों की तीन बड़ी लहर आईं। पहली लहर तीस के दशक में आई जब पूरी दुनिया में आई महामंदी के चलते कृषि उत्पादों के दाम एक दम से गिर गए। किसानों ने भू लगान और भूमि कर के खिलाफ भारी आंदोलन खड़ा किया। दूसरी लहर द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक बाद आई (1946-51), बंगाल में तेभागा आंदोलन, महाराष्ट्र में वार्ली विद्रोह, पंजाब में किशनगढ़ विद्रोह, पुन्नप्रा वायलार विद्रोह केरल में, और शायद सबसे तीखा और निर्णायक तेलंगना का सशस्त्र संघर्ष। और तीसरी लहर साठ के दशक के अंतिम सालों से लेकर सत्तर के दशक के शुरुआती वर्षों तक चली, नक्सलबाड़ी, मिदनापुर, श्रीकाकुलम, लखीमपुर-खीरी, और देश के कई अन्य जगहों में आंदोलन हुए।

परन्तु किसान आन्दोलनों की इन लहरों को या तो बार-बार कुचल दिया गया या फिर राजनैतिक नाकामयाबी की वजह से वे अपने आप ही खत्म हो गए, अंजाम तक नहीं पहुंच पाए। और समय के साथ किसान वर्ग की चेतना में भारी गिरावट आई है। मामला यहाँ तक पहुंच गया है कि आज गरीब किसान ज़मींदारों या सरकार से ज़मीन पर हक मांगने के बजाय, शासक वर्ग विकास के नाम पर गरीब किसानों से ज़मीन मांग रहा है। खेतिहर जनता साहूकारों पर हमला बोलने के बजाय (जैसा कि 1875 में महाराष्ट्र के दक्कन विद्रोह में हुआ था) आज कर्जदार किसान अपने आप पर ही हमला कर रहे हैं – सरकारी आंकड़ों के अनुसार, 1998 से आज तक तीन लाख से ज़्यादा किसानों ने आत्महत्या की है। अपने आप को कितना अकेला और मजबूर महसूस करने पर ही कोई खुदकुशी जैसा कदम उठा सकता है, इसका हम सब अंदाज़ा लगा सकते हैं। पर अगर वह बात तीन लाख बार दोहराई जाए, देश के अलग अलग हिस्सों में, क्या इससे यह बात बिलकुल साफ नहीं हो जाती कि हमारे देश के किसान बदहाली और मायूसी के किस गर्त में जी रहे हैं – या फिर मरने पर मजबूर हो रहे हैं?

तानाशाही की भौतिक शर्तें

जनता की बदहाली तानाशाही के पनपने के लिए उर्वर ज़मीन होती है। मैंने अपने लेख की शुरुआत जिस सवाल से की थी, उसका आंशिक जवाब तो ऊपर वर्णन किये गए हालातों से मिल ही जाता है – कि क्यों नोटबंदी के खिलाफ, हमारे देश की दबी-कुचली जनता विद्रोह तो दूर की बात एक सशक्त जन आंदोलन भी खड़ा नहीं कर पाई? जो लोग अपनी बात रखने में सक्षम हैं उनकी तरह-तरह की राय इस कदम पर सुनने में आई है (क्योंकि वे एक मत नहीं हैं) पर इस क्रूर प्रक्रिया के असली पीड़ित – बहुसंख्यक आबादी की बात कहीं कही ही नहीं गई, क्योंकि उनके पास अपनी बात रखने के लिए कोई संगठन ही नहीं है – या जो हैं वे इतने कमजोर हैं कि उनका होना न होना बराबर है। वैसे ही वे अपने रोजमर्रा के उत्पीड़न, और समय-समय पर आने वाली भारी आफत के बारे में किसी को बोल नहीं सकते, शासक वर्ग को इसकी बिलकुल फ़िक्र नहीं। और इस मौके पर तो शासक वर्ग ने चारों तरफ से ऐसा हल्ला मचाया, इतना प्रचार प्रसार किया कि दबे रहने की आदी जनता बस इसी बात पर लगी रही कि किसी तरह यह समय कट जाए, महज़ ज़िंदा रहने की जद्दोज़हद में ही वे जुटे रहे।

और अब उत्तर प्रदेश के चुनावी परिणाम को नोटबंदी पर जनता के समर्थन के रूप में पेश किया जा रहा है। पर इस देश में जिस तरह से संसदीय चुनाव कराए जाते हैं (उसकी वास्तविक प्रक्रिया) उससे लोगों की लोकतान्त्रिक चेतना और अपनी सोची समझी और राज़ी खुशी से दी गई सहमति का कोई लेना देना नहीं है। लोग क्या उम्मीद कर रहे हैं, उन्हें किस बात का डर है, चुनावी परिणाम से कुछ कुछ इन बातों का अंदाज़ा तो लगता है, पर यह कहना कि वह किसी सरकारी नीति या निर्णय पर लोकतान्त्रिक 'मुहर' है एकदम गलत होगा। सच तो यह है कि सभी चुनावी पार्टियां कमोबेश शासक वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती हैं और उनके बुनियादी कार्यक्रम और नीतियों में कोई खास फर्क नहीं है। तिस पर वे सभी बेहद मौकापरस्त भी हैं – अपनी सुविधा देखकर दोस्त और दुश्मन बनाते हैं और बदलते भी। नीतियों के लागू करने की प्रक्रिया में ही उनमें थोड़ी बहुत भिन्नता है।

भाजपा ने इस बार नोटबंदी को चुनावी मुद्दा तक नहीं बनाया। बल्कि जैसे कि हमने पहले बात रखी – अधिकांश वोट जाति और समुदाय के अनुसार ही डाले गए (सभी तीन मुख्य पार्टियों में – भाजपा, सपा और बसपा)। इस प्रतियोगिता में बसपा और सपा तो अपनी-अपनी पहचान पर आधारित वोटों में सीमित रह गए। भाजपा, सिर्फ़ ऊँची जाति और समुदायों में अपनी पकड़ बनाए रखने में कामयाब रही, पर उसने पिछले तीन सालों में अपने समर्थन आधार (support base) को काफी बढ़ाया भी। इसके लिए उन्होंने कई पैंतरे अपनाए जैसे कि – कुछ गिने चुने पर प्रभावी OBC / SC व्यक्तियों को बड़ी चालाकी से अपने खेमे में खींच लिया, अपनी सत्ता के दलालों के जाल को फैलाया और सांप्रदायिक ध्रुवीकरण (सम्प्रदायों के बीच का फ़ासला – उनमें दंगा होने की नौबत) को खूब हवा दी (गौर करने की बात है मोदी और अमित शाह ने खुद कसाब और कब्रस्तान के नारे लगाए)। ऊपर बताए गए हथकंडों से और सत्तारूढ़ पार्टी का जो लोगों में

सामान्य रूप से विरोध होता है (anti-incumbency) के चलते भाजपा अपने 2014 के आम चुनाव में मिले वोटों को बनाए रखने में सफल रही।

यह भी सच है कि जिन लोगों का नोटबंदी से नुकसान हुआ उनमें से कुछ का यह भी मानना था कि 'पूरे देश की भलाई के लिए अगर उन्हें कुछ तकलीफ सहनी भी पड़े तो उसमें कोई बुराई नहीं' – और यह कि मोदी एक बहुत ही साहसी नेता हैं। यही सोच इसका जीता जागता उदाहरण है कि वर्ग चेतना और वर्ग संगठनों के अभाव में लोग शासक वर्ग द्वारा फैलाए गए किस-किस तरह के मिथक और विचारों के बहकावे में आ जाते हैं।

हमारे आंकलन के अनुसार हमें अब इस बात पर गौर करना चाहिए कि, भाजपा के *बढ़े हुए* (थोड़ा सा ही सही) समर्थन-आधार और संसद में *भारी प्रभाव* के चलते, भाजपा नेता अब यह *दावा* करने की स्थिति में हैं कि वे जो भी कर रहे हैं उसमें उन्हें जनता का समर्थन है। और इसलिए अब वे पहले से कहीं आसानी से कई और जन-विरोधी नीतियों को जबरन लागू कर सकते हैं।

इस देश में तानाशाही का एक और चौंकाने वाला समसामयिक उदाहरण लेते हैं – जिस तरह किसानों से उनकी ज़मीन हड़पी जा रही है, खासकर आदिवासी किसानों से, और आज से नहीं दशकों से। आंकलन के अनुसार साल 1947 से 2000 तक विकास परियोजनाओं के नाम पर करीब 6 करोड़ लोगों को विस्थापित किया गया है या उनसे उनकी रोज़ी का साधन छीन लिया गया है, पर उनमें से सिर्फ एक तिहाई लोगों का ही सुनियोजित तरीके से पुनर्वासन किया गया है। इन में 40 प्रतिशत आदिवासी हैं (अर्थात् कुल आबादी में उनके अनुपात का पांच गुना) और इसके अलावा 20 प्रतिशत दलित हैं। संभव है कि 2000 के बाद इन तबकों में विस्थापन कहीं ज़्यादा संख्या में हुआ हो क्योंकि इस दौरान विकास का स्वरूप कहीं ज़्यादा हिंसक रहा है। क्या देश के अमीर तबके या फिर मुखर मध्यम वर्ग के खिलाफ हम ऐसी तानाशाही कार्यवाही की कल्पना भी कर सकते हैं? ज़ाहिर है कि, ग्रामीण क्षेत्र के गैरलोकतांत्रिक सामाजिक ढांचे के भरोसे ही, ग्लोबल पूंजी और हमारे शासक वर्ग ने मिलकर इस देश की विशाल ग्रामीण जनता की संपत्ति को हड़पने की योजना बनाई है – कि कोई चूं भी न करेगा चाहे कितनी भी तकलीफ हो।

पर अब इस बेदखल करने वाले शासन को प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। इस विशाल पैमाने पर ज़मीन की बेदखली (जो कि अपने आप में हिंसा है) को करने के लिए शासक वर्ग को सशस्त्र हिंसा का सहारा लेना पड़ा है – वर्दी धारी और सामान्य गुंडों के जरिए वे इस काम को अंजाम दे रहे हैं। हाल के एक शोध ने ज़मीन से जुड़े 289 चालू मामलों का विश्लेषण किया है। कुल मिलाकर इन मामलों से 32 लाख लोग और 12 लाख हेक्टेअर ज़मीन (50 लाख बीघा) प्रभावित होते हैं। इनमें से ज़मीन को लेकर तीन चौथाई झगड़े सामुदायिक ज़मीनों के लिए है – जिसमें जंगल भी शामिल हैं। ज़मीनी झगड़ों में से 40 प्रतिशत से ज़्यादा जंगली ज़मीन को लेकर हैं, खासकर उन जगहों में जहाँ आदिवासी समुदायों के प्रथागत अधिकार मान्य नहीं

हैं। जो जिले अनुसूची V के अंतर्गत आते हैं, जहाँ बड़ी संख्या में आदिवासी बसते हैं, उन जिलों में देश के अन्य जिलों के मुकाबले ज़मीन को लेकर मामले उड़ गुना ज़्यादा हैं। झगड़ों से प्रभावित कुल लोगों में हर तीसरा व्यक्ति आदिवासी होता है। और ज़मीन को लेकर लड़ाई का सबसे बड़ा कारण है सरकार द्वारा किए गए भू अधिग्रहण, 60 प्रतिशत मामले इसी से जुड़े होते हैं। जिनको अपना सब कुछ छिनता हुआ दिखता है उन्हें तब मजबूरन उन लोगों से सहारा माँगना पड़ता है जो उनकी मदद करने को तैयार हों – शायद इसी कारण जिन जिलों में कथित 'वामपंथी उग्रवाद' का प्रकोप है उन्हीं जिलों में ज़मीन को लेकर मामले भी ज़्यादा पाए जाते हैं – राष्ट्रीय औसत का उड़ गुना।

जैसा कि हमने पहले कहा है – जनता में व्यापक गरीबी का मुख्य कारण है भूमि सुधार कार्यक्रम की असफलता, और इसी के चलते देश की अर्थव्यवस्था में मांग की कमी हमेशा बनी रही है। इस मांग की कमी रुपी बाधा से पार पाने के लिए शासक वर्ग ने अस्सी के दशक से ही कई पैंतरे अपनाने शुरू किए जिससे वित्तीय बुलबुले बनते गए – विदेशी कर्ज़ बढ़ाना, बैंकों से उद्योगों और ग्राहकों को भारी मात्रा में कर्ज़ देना, और शेयर बाजार उन्मादता को बढ़ावा देना। पर जब जब ये बुलबुले फूटते हैं, और फूटना निश्चित है, तब तब बुनियादी मांग की कमी रुपी बाधा फिर सतह पर आ जाती है और कॉर्पोरेट क्षेत्र में मंदी छा जाती है। वर्तमान में भी हम ऐसी ही एक मंदी के दौर से गुज़र रहे हैं।

इस तरह की मंदी में विदेशी निवेशकों और देशी बड़े पूंजी की धन जमा करने की रफ़्तार धीमी हो जाती है, पर यह स्थिति उनके लिए घातक है। इस नागवार स्थिति से जल्द से जल्द उभरने के लिए वे असाधारण तरीके अपनाते हैं – ताकि किसी भी कीमत पर धन बटोरने की रफ़्तार में तेज़ी आए। ऐसी परिस्थिति में कंपनियां मांग करती हैं कि सरकार निवेशकों की 'पशु आत्मा' (animal spirit) को जगाए (अर्थात् उन्हें मुनाफे के लिए निवेश करने का प्रोत्साहन दें)। पर कैसे? उनको बहुत ढेर सारा धन राशि देकर – तमाम तरह की छूट देकर, या फिर पब्लिक सेक्टर संपत्ति उनके हवाले करके, या प्राकृतिक सम्पदा उनके नाम कर। एक शोध के अनुसार, 2012 में देश के 46 खरबपतियों में से 20 ने अपनी अगाध संपत्ति (या उसके मुख्य स्रोत) उन क्षेत्रों में बनाई थी जहाँ सरकार ने उन्हें एकाधिकार (monopoly) आर्थिक शक्ति मुहैया करवाया था और राज्य की तमाम संस्थानों की मिली-भगत की भी इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका रही, (मसलन – ज़मीन जायदाद, निर्माण, इंफ्रास्ट्रक्चर और खनन)। इस बात पर भी गौर करें कि कितनी तेज़ी से, कॉर्पोरेट घरानों के सदस्य, देश की राजनीति और नीतियां बनाने की प्रक्रिया में सीधा हस्तक्षेप करने लगे हैं, उनके कई मुखिया अब संसद में भी सीधे घुसने का प्रयास कर रहे हैं।

हैरत की बात तो यह है, कि जनता की बेहद बदहाल स्थिति जिसके चलते वह पर्याप्त सामान नहीं खरीद पाती (और कंपनियों को मनचाहा मुनाफा नहीं मिल पाता), उससे जूझने के लिए सरकार उनकी बची-खुची संपत्ति भी छीन लेती है और कम्पनिओं के हवाले कर देती है। इसी मकसद से सरकार ने अपनी दमनकारी ताकतों को और भी मजबूत किया है। इस पर बहुत सी बातें कही जा सकती हैं, पर मैं एक तथ्य से अपनी

बात की पुष्टि करूंगी, क्योंकि मुझे लगता है उस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। सातवें वेतन आयोग (Seventh Pay Commission) की रिपोर्ट में कहा गया है कि प्रति लाख की आबादी में केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों की संख्या भारत में अमरीका के मुकाबले सिर्फ एक बटे पांच ही है। सीधी सी बात है, कि अगर इतने कम कर्मचारियों के ज़रिए सरकार अपनी सेवाएं लोगों तक पहुंचाने की कोशिश कर रही है, तो वह पर्याप्त हो ही नहीं सकता। पर इतना ही नहीं, भारत में केंद्रीय सरकार की नौकरियों के 55 प्रतिशत गृह मंत्रालय के तहत आते हैं। उसके अतिरिक्त 22 प्रतिशत, सुरक्षा मंत्रालय के नागरिक रोजगार के तहत आते हैं, यानि कि केंद्रीय सरकार की कुल '77' प्रतिशत नौकरियां सिर्फ **सुरक्षा** के लिए आरक्षित हैं। *2006 से 2014 की अवधि में देश में सभी मंत्रालयों और डिपार्टमेंटों में भारी मात्रा में नौकरियां कम की गईं सिर्फ गृह मंत्रालय पुलिस को छोड़कर, वहां 32 प्रतिशत नौकरियां बढ़ाई गईं।* मौजूदा राज सत्ता के बुनियादी जिम्मेदारी (कागज़ी नहीं हकीकत में जैसा है), जिसका कि हमने पहले ही विवरण दिया है, से यह पूरी तरह मेल खाता है।

संक्षेप में कहा जाए तो, इस देश में तानाशाही और मनमाने शासन का बुनियादी कारण है लोकतांत्रिक बदलाव के प्रक्रिया का आधा-अधूरा और अधकचरा ही हो पाना, जो कि देश की विकृत राजनैतिक अर्थव्यवस्था में साफ झलकता है। *इस विकृत राजनैतिक अर्थव्यवस्था के चलते जिस किस्म की चेतना का गठन होता है उससे लोगों में सिर्फ बेबसी और पराधीनता की मानसिकता ही पनपती है। और शासक वर्ग भी इस स्थिति को आतंक के ज़रिए मजबूती से बनाए रखते हैं, दोनों तरीकों की दहशत से – रोजमर्रा के और कभी कभी संगठित तरीकों से, जब जैसी ज़रूरत हो।*

वैचारिक हथियार और जवाबी उपाय

आज के समय में लोकतांत्रिक अधिकारों को सबसे ज़्यादा खतरा शायद सांप्रदायिक फासीवादी ताकतों से है। जैसा कि हमने पहले ही बताया है इस देश का मजदूर वर्ग आर्थिक रूप से बंटा और विखंडित है (यानि कि हर मजदूर एकदम अकेला – एक से दो भी नहीं साथ) और उसके चलते उनमें भयानक अलगाववाद और असुरक्षा की भावना पनपती है। और यह परिस्थिति शासक वर्ग को साम्प्रदायिक पहचान और प्रतिक्रियावादी एकता को बढ़ावा देने के लिए उपजाऊ ज़मीन साबित होती है। वास्तव में इस देश के शासक वर्ग ने सांप्रदायिक फासीवादी विचारधारा के इस्तेमाल को एक कला के स्तर तक पहुंचा दिया है। और इनके वैचारिक प्रभाव का सबसे पुख्ता सबूत साम्प्रदायिक नरसंहार नहीं हैं, जो समय समय पर कमजोरों का किया जाता है, और जिसे 'दंगे' का नाम दिया जाता है। बल्कि इस बात में है कि यह सांप्रदायिक फासीवादी विचारधारा दिन प्रतिदिन इस प्रकार फैलाई जा रही है कि वह हमें सामान्य लगने लगी है। उसे एक व्यावहारिक ज्ञान और सूझबूझ का दर्जा देकर हमारी रोजमर्रा की ज़िंदगी में घोला जा रहा है, और उसे 'राष्ट्र' की पहचान से भी जोड़ा जा रहा है। तमाम तरह की प्रतिक्रियावादी और अलोकतांत्रिक नीतियों के लिए

समर्थन जुटाने का यह एक सशक्त जरिया है – मसलन बोलने की आज़ादी का दमन, संगठित होने की आज़ादी, बौद्धिक और धार्मिक आज़ादी।

इस तरह के विषैले, दहशतगर्द और सांप्रदायिक माहौल में शासक वर्ग के लिए और तरह के अधिकारों का दमन करना भी आसान हो गया है। पिछले महीने ही कोर्ट ने, जहाँ एक तरफ एक से एक साम्प्रदायिक कट्टरपंथी को संगीन जुर्मों के इलज़ाम के बावजूद बरी कर दिया है, वहीं दूसरी तरफ मारुती सुजुकी के यूनियन कार्यकर्ताओं और कॉर्पोरेट द्वारा की जा रही भूमंडलीकरण के खिलाफ आन्दोलनों के कार्यकर्ताओं को (प्रो साईबाबा और अन्य) आजीवन कारावास की सजा दी है।

लम्बे अनुभव से एक पुराना सबक सही साबित होता है: साम्प्रदायिक पहचान और प्रतिक्रियावादी एकता के विरोध में असरदार संघर्ष करने के लिए ज़रूरी है ऐसे संगठन जो बुनियादी रूप से असली पहचान और असली एकता पर खड़ा किया गया हो।

एक तरफ मजदूर वर्ग जाति, धर्म, लिंग के आधार पर बंटे हैं। दूसरी तरफ इन विभाजनों को कॉर्पोरेट मीडिया द्वारा और पुख्ता किया जा रहा है – पिछले 25 सालों में यह सिलसिला बहुत तेज़ी से बढ़ा है। मीडिया, उपभोक्तावाद, एकलवाद, लिंगभेद, कौमपरस्ती (nationalism) अपने देश को सभी देशों के मुकाबले श्रेष्ठ मानना। यहाँ तक कि सीधे तौर पर साम्प्रदायिक नफरत को बढ़ावा देना जिससे कि लोग और विभाजित हो जाते हैं। मुखर मध्यम वर्ग पर मीडिया का हमेशा से ही ख़ासा प्रभाव रहा है, पर वर्तमान समय में आम जनता पर भी उनकी पकड़ बढ़ती जा रही है। चूँकि शासक वर्ग का मीडिया पर पूरी तरह कब्ज़ा है, अब उनके तिकड़म और गलत प्रचार का विरोध करना और भी चुनौतीपूर्ण होता जा रहा है। और इसके साथ साथ मोबाइल का व्यापक उपयोग, डिजिटल इंडिया का पनपना, केंद्रीय पहचान कार्यक्रम (आधार) जैसी आपस में जुड़ी हुई प्रक्रियाएं एक ऐसा जाल तैयार कर रही हैं कि अब शासक वर्ग को जनता तक अपनी बात पहुँचाना, उन पर कड़ी निगरानी रखना और उन्हें नियंत्रित करना पहले से कहीं ज़्यादा आसान हो गया है।

ऐसे शक्तिशाली रसूख के तरीकों का भी मुकाबला किया जा सकता है बशर्ते लोकतान्त्रिक मीडिया उपलब्ध हो। पर ऐसे मीडिया को खड़ा करने के लिए एक वैकल्पिक आधार होना बेहद ज़रूरी है और उसके लिए ज़रूरी है संगठित लोकतांत्रिक संघर्षों की।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का जो खाका हमने खींचा है उससे यह साफ़ नज़र आता है कि लोगों की लोकतान्त्रिक चेतना जो कि किसी भी लोकतान्त्रिक अधिकार आंदोलन का आधार होती है, उसका लोकतान्त्रिक संघर्षों से सीधा जुड़ाव है, और जिस रफ़्तार से संघर्ष बढ़ेंगे, चेतना का भी विकास होगा। लोकतान्त्रिक संघर्ष का मतलब है बेहतर ज़िंदगी के लिए लोगों की लड़ाई और मौजूदा तंत्र का ऐसा परिवर्तन जो जनता के हित में हो। बेहतर ज़िंदगी के लिए संघर्ष करते करते लोग एक दूसरे के संपर्क में आते हैं और इसी से वे अपने अकेलेपन से उभर पाते हैं और फिर मिलकर संघर्ष करना शुरू कर देते हैं। और इस अनुभव से उन्हें समाज का एक

साझा प्रगतिवादी विकल्प के (सपने का) एक ठोस आधार भी मिल सकता है। इसीलिए लोकतान्त्रिक संघर्षों के ज़रिए ही ऐसे समाज का गठन हो सकता है 'जहाँ लोग इस कदर जिज्ञासु और दम्भी होंगे कि वेफिर कभी भी अपने से सामाजिक तौर पर बड़े लोगों के सामने झुकने की नम्रता नहीं जुटा पाएंगे' जैसा कि एक अंगरेज राजभक्त ने आक्षेप करते हुए कहा था।

जैसे-जैसे लोगों में लोकतान्त्रिक चेतना का विकास होता है, शासक वर्ग उसके जवाब में दमन की मात्रा को बढ़ा देता है। इन हालातों में लोकतान्त्रिक अधिकार के आंदोलन एक अहम् भूमिका अदा कर सकते हैं – किसी भी तबके की शोषण की लड़ाई में ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को जोड़कर। लोकतान्त्रिक संघर्ष से उसका रिश्ता वैसा ही है, जैसा रीढ़ की हड्डी से एक हाथ या पाँव का होता है, वह महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है बशर्ते रीढ़ की हड्डी मजबूत हो। कभी कभार लोकतान्त्रिक अधिकार के लिए आंदोलन के चलते लोकतान्त्रिक संघर्ष भी शुरू हो सकता है, पर उसके बने रहने के लिए लोकतान्त्रिक संघर्ष का होना अनिवार्य है।

दूसरे वर्गों के, जैसे कि पढ़े लिखे और अपनी बात रखने के सक्षम लोग – कर्मचारी, पेशेवर, बौद्धिक, इत्यादि से भी कई एक व्यक्ति एक व्यापक लोकतंत्र की अवधारणा (**wider vision of democracy**) से इत्तेफाक रखते हैं– चाहे अपने तजुबों के चलते या फिर दूसरों के तजुबों से अपने आप को जोड़कर। इन वर्गों के लोगों को भी अपनी मान्यताओं में बने रहने के लिए एक व्यापक लोकतान्त्रिक संघर्ष का होना बहुत ज़रूरी है। पोस्को और नियामगिरि जैसे संघर्ष हम सब की रीढ़ की हड्डियों को मजबूत करते हैं।

लोकतान्त्रिक अधिकार के आंदोलन की भूमिका क्रिकेट मैच के अंपायर की तरह नहीं हो सकती; उनका जनता के पक्ष में होना ज़रूरी है। वे *जनता के अपनी ज़िंदगी बेहतर करने के असली संघर्षों* पर आधारित होंगे न कि सार्वभौमिक मानवाधिकार या संवैधानिक अधिकारों जैसी किताबी बातों पर; वे उसी अनुपात में बढ़ेंगे, जिस रफ़्तार से *समाज का सही मायने में लोकतान्त्रिक परिवर्तन के लिए लोगों का संगठित संघर्ष बढ़ेगा*, और इसके बावजूद कि किसी भी समय उनकी वास्तविक पहुँच इस बात से तय होगी कि देश में लोकतान्त्रिक संघर्षों की स्थिति क्या है, पर अंत में उन्हें सारी जनता को जोड़ना होगा।

सारांश में, बात को फिर से दोहराते हुए यह कह सकते हैं कि, लोकतान्त्रिक अधिकार के आन्दोलनों को लोकतान्त्रिक बदलाव के संघर्षों से और जनता से जुड़कर ही काम करना होगा।

* * *

Mail: karwan.collective@gmail.com

URL: <https://karwan-collective.appspot.com/>

लाइसेंस <https://creativecommons.org/publicdomain/zero/1.0/> के अंतर्गत जारी। संक्षेप में, कारवां कलेक्टिव इस अनुवाद का सम्पूर्ण कॉपीराइट या सम्बन्धित या करीबी अधिकार त्याग रहा है। कृपया इस काम की प्रतियाँ बनाने या इसे आगे बाँटने से ना हिचकें।
